अश्वमेधी मुद्रा

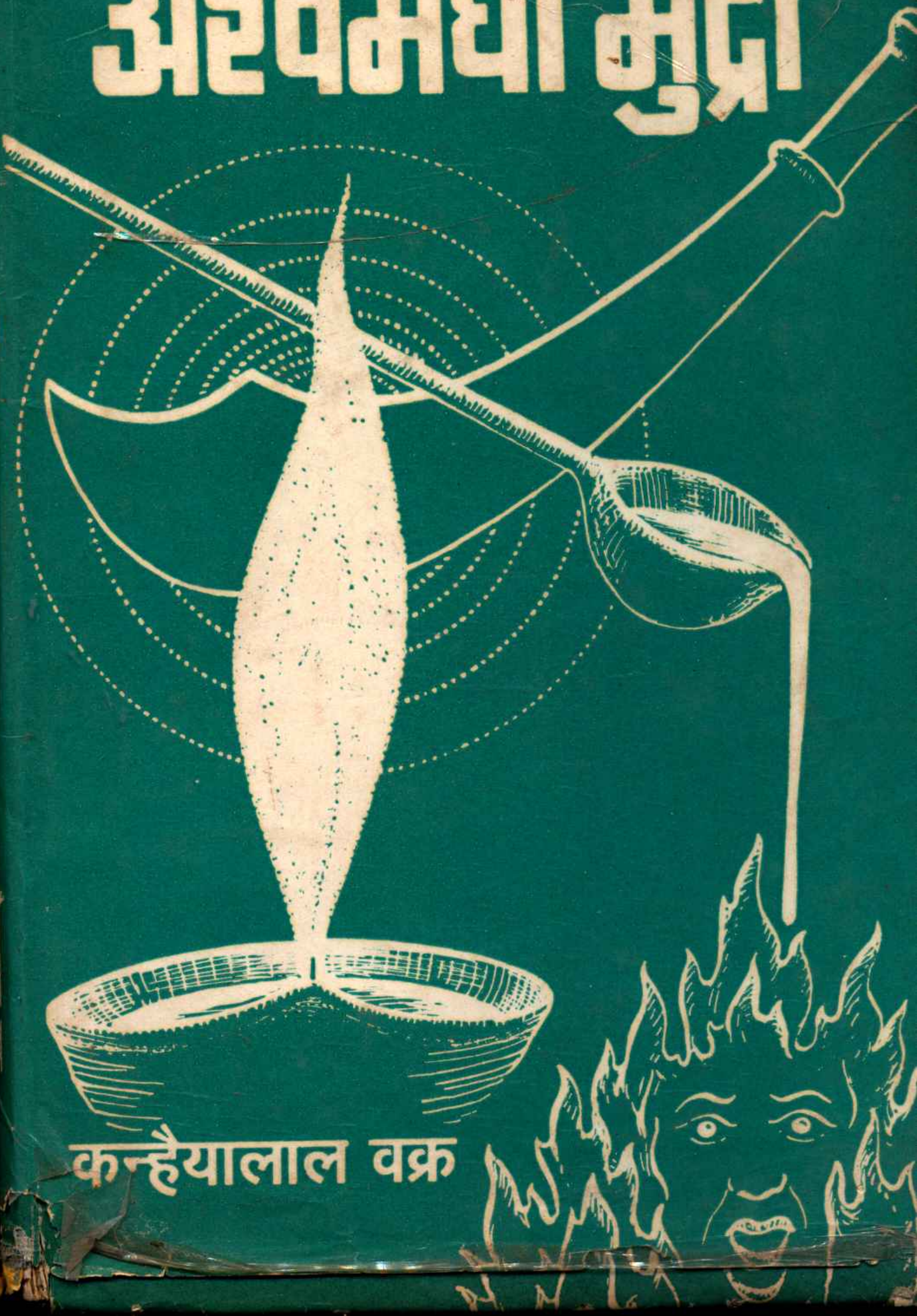

कन्हैयालाल वक्र

इन निबन्धों में एक तरफ समसामयिक समाज की स्थितियों-परिस्थितियों की पड़ताल की गयी है, वहीं भाषा की व्यंजकता भी अपना कौशल यत्र-तत्र दर्शाती है। क्योंकि ये निबन्ध सामाजिकता का निर्वाह करते हुए अपने समय में सार्थक हस्तक्षेप करते हैं। इसलिए एक ओर उनका कथ्य अनेकायामी हो जाता है, वहीं भाषा कविताई प्रभाव छोड़ती है। निबन्ध संस्कृति, दर्शन और सामाजिक मूल्यों को जहां नवीन दृष्टि से देखते-परखते हुए आगे बढ़ते हैं, वहीं लोक-मानसिकता के साथ भी अपनी संगति बैठाते हैं। यहीं इनकी सम्प्रेषणीयता बढ़ जाती है।

डा. आईदानसिंह भाटी
हिन्दी विभाग
राजकीय महाविद्यालय
बाड़मेर

अश्वमेधी मुद्रा

कन्हैया लाल वक्र

पल्लव प्रकाशन, दिल्ली

ASHWAMEDHI MUDRA
by
Kanahia Lal Vakra

मूल्य : 45 रुपया मात्र / प्रकाशन वर्ष : 1992 / संस्करण : प्रथम
प्रकाशक : पल्लव प्रकाशन, 1458, मालीवाड़ा, दिल्ली-6
मुद्रक : मानस प्रिंटिंग, प्रेस, IX/4753, पुराना सीलमपुर, दिल्ली-31

अश्वमेधी मुद्रा

कन्हैया लाल वक्र

भूमिका

'अश्वमेधी मुद्रा' शीर्षक पढते ही इसलिये ठहर जाता हूँ कि मुझे ये दोनों शब्द रूढ लगते रहे हैं. चूंकि इस शीर्षक से ही इस पाण्डुलिपि को पुस्तक रूप में समाज के सामने जाने से पूर्व मुझे पहले पाठक का अपना साक्ष्य प्रस्तुत करना है. सोचता हूँ रचनाकर्मी ने ही दिया है अपनी शब्द यात्रा के इस संकलित रूप को यह शीर्षक, तब मैं यह मान लेता हूँ कि रचनाकर्मी का उद्देश्य कर्मणी समाज के इस 'अश्वमेध' में पड़ती रहती हवियों और मुद्राओं को देखना तो है ही, दिखाना भी है और वह भी अपने ही सोच के प्रकार से. लगातार देखते रहने से भी देखने वाले की मुद्रा बनती है और फिर देखने वाला भी देखा जा रहा है. इस तरह देखे जाने का अर्थ वह स्वयम् एक हव्य है. इस भाव पर भी प्रभाव की मुद्रा और प्रतिक्रिया की अभिव्यक्ति होती है. यह मुद्रा और अभिव्यक्ति तब और गहरा जाती है जब हव्य यह जान जाता है कि उसे भी अगले क्षण इस 'अश्वमेध' में स्वाहा होना है या कि वह भी तिल-तिल स्वाहा हो रहा है.

'अश्वमेधी मुद्रा' को पहचानने की प्रक्रिया में मेरा सोच यह है कि इस 'अश्वमेध' के सन्दर्भ में मुझे यह मान कर चलना चाहिये कि मैं हव्य तो हूँ ही मगर लगातार दूसरों के हाथों के झोंके जाने के लिए नहीं वरन अपनी समझ से स्वाहा होने की अनिवार्यता को पहचानते हुए स्वाहा होना है. 'स्वाहा' की इस अनवरत प्रक्रिया का हिस्सा बने रहने का एक अर्थ यह हुआ कि न केवल वर्तमान अपितु आने वाले समय और नई पीढ़ी की सम्भावनाओं क्षमताओं का अनुमान करते हुए इस अश्वमेध और उसकी मुद्राओं को मांज-मांज कर मिट्टी पाथते रहना, चूंकि यह अश्वमेध है तो आँच है ही, आँच है तो मिट्टी को पक कर एक शक्ल लेनी ही है.

अब पाडुलिपि हो या किताब, साक्षी बनकर प्रारम्भ से अन्त और फिर अन्त से प्रारम्भ तक धीरे-धीरे लौटने की आदत रही है. पाण्डुलिपि का अन्त मुझे अपने पास काफी देर तक ठहराए रखता है. मेरे भी ठहर जाने का कारण बनता है, अतीत की रचना के सहारे रची जा रही को पहचानना. अतीत की रचना का नाम है लोककथा चूंकि लोक अनवरत रूप से गतिशील है. इस कारण लोककथा भी गतिशील है, आज के साथ ही है. इस अर्थ में यह अतीत मेरे लिए रूढ अर्थ में अतीत नहीं है. मैं श्री वक्र की लोककथा के अर्थ से अपने को पूरी तरह सहमत पाता हूँ. उन्होंने अतीत को नवार्थ तो दिया ही है, वर्तमान को भी बहुत गहरे जुड़ाव से देखा है.

उनके इसी गहराव के लिए धीरे-धीरे प्रारम्भ की ओर लौटता हूँ. कभी 'डायल 100' तो कभी 'छंगेजी और त्रिभुज के तीन कोण', 'युवा लव कुश ही थामेंगे रामजी का घोड़ा' मुझे ठहरा लेता है. मैं अपनी चाल से 'दल-दिल और दम्भ', 'धर्म की बात' से होता हुआ 'कलुआ के बहाने' पर आकर विश्राम करता लगता हूँ.

विश्राम के इन क्षणों में ही मुझे लगता है कि वक्रजी समाज रूपी समुद्र में आधे से अधिक डूबे हुए हैं, यह भी कि इसे समुद्र का पानी निरा गर्म है तो निरा ठण्डा भी. गर्म-ठण्डे जलीय आघातों के परिणामस्वरूप वे जल को कभी हल्के तो कभी ताबड़तोड़ फेंकते-फेंकते दिखते हैं. मुझे गहरा सन्तोष होता है कि रचनाशीलता का उनका अनिवार्य आधार है—एक साथ ही बहुत गर्म और बहुत ठण्डे समाज-सागर की अनवरत प्रक्रिया में उनकी हिस्सेदारी. पर मेरा सन्तोष उनकी हिस्सेदारी से कुछ और अपेक्षा कर बैठता है. इस अपेक्षा का भी कारण है. 'धर्म की बात', 'युवा लव कुश....' और यत्र-तत्र व्यक्त हुए कई-कई शब्द संयोगों के कर्मणी यत्न पर शब्दों के ये कर्मणी यत्न सर्वत्र एक से नहीं रहते. कहीं-कहीं बहुत तीव्र होकर भी वे बहुत धीमे से लगे हैं मुझे. तब मेरे सन्तोष की कुछ और अपेक्षा को लगता है कि शब्दों, संयोगों, कर्मणी यत्नों के धीमे होने का अर्थ यह कि वक्रजी अभी इस समाज सागर की सीमाओं और पहचानने की प्रक्रिया में ही हैं. इसी कारण आधे डूबे हैं, जबकि लगातार गोता लगाने से ही गहराई और तैरते जाने से ही दूरान्तों को पहचाना जा सकेगा. श्री वक्र की इस 'अश्वमेधी मुद्रा' से उपजी मेरे सन्तोष की यह कुछ और अपेक्षा यह कामना करती है कि वे शीघ्र ही....'अनबूडे बूढे तिरे, जे बूडे सब अंग' की मुद्रा लें.

उनकी इस शब्द यात्रा के प्रति आश्वस्ति भाव के साथ.

—हरीश भादानी

अपनों के लिए

पनी कृति आपके हाथों में देने से पहले दो बातें. यद्यपि यहीं कुछ 'सृजनात्मकता ौर नीड़ के अन्तर्सम्बन्ध' में थोड़ा बहुत है, किन्तु मुख्य बात जो मैं सोचता हूँ कि ुधी पाठकों–आलोचकों के विचार में आयेगी, वह होगी विषय-वस्तु के बारे में और, इसी से मैं समझता हूँ कि बात उठती है उत्तरदायित्व की. अन्तर्मुखी या कि आन्तरिक सम्वेदनाओं के बाह्य स्फुरण का मतलब समाज से निरपेक्ष स्व-कवचीय हो जाना, यानी कि समाज संरचना में अपनी व्यक्तिगत भागीदारी से बहुत ही समझदारी पूर्वक अपना बचाव. मैं समझता हूँ कि समाज जो वस्तुतः पाठक और उसका परिवेश ही होता है, लेखक से, यदि वह विचारक भी है जो कि हर लेखक कमोबेश होता ही है; उससे बहुत कुछ अपेक्षा रखता ही है.

ऐसे साहित्य पर जो समाज से सरोकार रखते हुए रचित हुआ हो, शाश्वत न होने का आरोप लगना फैशन की तरह हो गया है. यह बात मैं पहले ही अपने बचाव के लिए नहीं कह रहा हूँ, क्योंकि सुधी पाठकों व समालोचकों से सरोकारी साहित्यकार का बचाव तो सम्भव है ही नहीं. सन्नाटे को तोड़ने के लिए बचावी मुद्रा होती ही नहीं है. रचना के शाश्वत होने न होने की बात यदि रचनाधर्मी रचाव के वक्त ही दिमाग में रखेगा तो रचना में महज घड़त और कृत्रिमता ही लक्षित हो जाने का भय भी तो रहता है. और फिर, समाज की बात समाज के साथ चलती है व समाज चूंकि अपनी समस्त संरचना और पुनर्रचना के साथ शाश्वत है, तो रचना के अल्पकालिक होने का भय रखना ही व्यर्थ है. लोककथाओं में समाज भी है और साहित्य भी. और, वे शाश्वत भी हैं.

मेरे लिए गद्य रचनायें वस्तुतः विषयगत अनिवार्यता थी. उधर मेरा कवि गद्य रचना के बारे में सोचता तक नहीं था. एक प्रकार से मेरा व्यक्तित्व कवि के रूप में लगभग स्वीकृत था तब अपने आप को गद्य की ओर मोड़ने से पहले दुविधा तो होनी ही थी. इसी दुविधा में विषय मेरे मानस-वन में भटक से रहे थे एवम् आन्तरिक रचाव व पकाव की प्रक्रिया भी निरन्तर दंशित कर रही थी. उस काल में भाई आइदानसिंह भाटी ने डॉ. सत्यनारायण की 'इस आदमी को पढ़ो' कृति मुझे पढने को दी. मुझे यह स्वीकार करने में कोई संकोच नहीं कि 'इस आदमी·····' ने ही मुझे गद्य विधा की ओर प्रेरित किया. उसी के परिणाम स्वरूप यह कृति सुधी पाठकों के हाथों में है.

एक भय मुझे अवश्य है. मूलतः कवि होने के कारण गद्य में भी संक्षिप्तता का, कहीं अनर्थक विस्तार वा कहीं महज सूत्रात्मकता के दोष यदि रचनाओं में हैं तो वे दोष मेरे कवि के दोष हैं, जिनका दण्ड शायद लेखक को भोगना पड़े.

आदरणीय भादानी साहब तो हमारे सबके अपने ही हैं. तब भी उनसे शुरू करके उन

सब मित्रों का जिन्होंने मेरे अकिंचन रचनाओं को प्रारम्भिक क्षणों में प्रोत्साहित किया और उन पाठकों का जिन्होंने मेरी रचनाओं को अखबारों पत्रिकाओं में पढ़ा और मुझे पत्र भेजकर मेरे आत्म विश्वास को बल दिया, उन सम्पादकों का भी जिन्होंने अपने प्रतिष्ठित पत्रों में मेरी सर्वथा नई गद्य-रचनाओं से मेरे समाज को परिचिति कराने में योगदान दिया, राजस्थान साहित्य अकादमी का जिसके प्रदत्त आर्थिक सहयोग से यह कृति प्रकाशित होना सम्भव हुई, उस सहचारी का जिसने अनेक कठिन व विपरीत परिस्थितियों में भी लेखानुकूल परिवेश को बनाये रखा, भाई हरीदास व्यास एवम् राजथानी ग्रन्थागार का जिन्होंने प्रकाशन का लगभग सम्पूर्ण दायित्व स्वेच्छा से स्वीकार किया, इन सबका मैं स्वयम् को न सिर्फ अनुगृहीत बल्कि ऋणी भी महसूस करता हूँ. धन्यवाद

—कहैन्यालाल वक्र

अनुक्रमणिका

1. कस्मै गणाधिपत्यै 1
2. कलुआ के बहाने 6
3. सृजनात्मकता के नीड़ से अन्तर्सम्बन्ध 11
4. धर्म की बात 14
5. दल, दिल और दम्भ 18
6. युवा लव-कुश ही थामेंगे, रामजी का घोड़ा 21
7. युवा ···युवा··· ऐ युवा···· 24
8. विवेकानन्द प्रासंगिक 28
9. नाक की बात 30
10. छंगेजी और त्रिभुज के तीन कोण 35
11. यह सवाल सत ही नहीं है 40
12. डायल 100 43
13. हर शै फजूल है, चाय अगर···· 46
14. महंगाई को मारे सो मीर 50
15. मच्छरों ने करवाई मेरो नसबन्दी 52
16. घरेलू गधे और हातिमताई के सात सवाल 58
17. एक लोककथा की अश्वमेधी मुद्रा 61

'इस ग्रादमी को पढ़ो'

ग्रौर

'फटी जेब से एक दिन'

के रचयिता

साथी सत्यनारायण को —

ख
व
से
हो
स्व
वा
गर
कि
सम
घोर
नम
हे
दिन
उसके
भोग
रूपा
भौति
हमारे
वा अ
हत्याए
करने
गणों
आपके
कोई वि
उनके
आश्रय
रह गया
रहे हैं,
मां धरते
गणपति

कस्मै गणाधिपत्यै

खर्वं स्थूलतनु गजेन्द्र वदनं, लम्बोदरम्, सुन्दरम्,
देखे न सुने रे गणपति, आपसे धुरन्धरम्.

खर्व यानि कि वामनत्व आपके आकार में नहीं, स्वभाव में विद्यमान है. महान विद्वान भगवान यास्क के मतानुसार देवता अपने आभूषणों और वाहनों आदि के रूपों से परिणत होते हैं; उसी प्रकार से हे गणपति ! आप भी अपने वाहन रूप में वामन हो. मेरा अभिप्राय चूंकि आपके आकार रूप से या कि मूर्त रूप से न होकर आपके स्वभाव रूप से है और यह अर्चना भी उस स्वभाव रूप गणपति की है, इससे आपके वाहन से मुझ तुच्छ नर का अभिप्राय भी 'इकाई-गणना' यानि कि गणपति के मूल गण से या कि मनुष्य से है; क्योंकि 'गणानाम् ईशः गणेश' सर्व स्वीकार्य सत्य है या कि 'गणस्य ईशो गण नामीशो वा' बहुत गहरे अर्थों में जाने की न स्थिति है, न यह समयोचित, इसलिये हे गणपति ! सभी गणों के प्रमुख ! मैं इस इक्कीसवीं सदी के घोर संकट की स्थिति में 'विघ्नचिछदे तस्मै गणाधिपतये नमः' करते हुए पुनः नमस्कार करता हूँ.

हे खर्व-स्थूल तनु, आपकी अतिशय कृपा से हमारा यानि कि गणों का बौनापन दिन दूनी रात चौगुनी प्रगति पर है. आपका जो स्थूल रूप हमारे पूजा के लिए है, उसके सापेक्ष आपके गण हम मूषक से भी निम्न योनियों का 'सुख' (आपकी नजर में) भोगने को विवश हैं. हे गणपति ! आप शिव, जो प्राण रूपा है, और शक्ति जो सौम्य रूपा है, के समन्वय से उत्पन्न जाने जाते हैं. इस यौगिक को ऋचाओं में मारुत या कि भौतिक वायु से निरूपित किया गया है. इस वायु के सात मरुतों और उनचास रूपों से हमारी भौतिक देही में मात्र अपान वायु अपने चरम तांडव में है. इसी से उत्तेजित वा अभिमानी होकर अनेक गण आज अमानवीय कृत्य करने लगे हैं. आये दिन हत्याएँ, शीलभंग की घटनाएँ, दीनों-हीनों पर अत्याचार आपके प्रिय अनुचर ही करने लगे हैं. उन पर भी शायद अपान वायु का कुअसर हो गया है. वे अपने आपको गणों की जगह पर गज स्वीकारने लगे हैं. ऐसे स्वयंभू गजों के कारण हम गण आपके वाहन मूषक से भी बदतर स्थिति में पहुंच गये हैं. हे गणपति ! हमें उनसे कोई विशेष शिकायत नहीं होती, लेकिन वे तो आपको गणपति ही नहीं मानते. उनके दर्शन के हिसाब से आप सिर्फ गजपति ही हैं और, इस हिसाब से आपके आश्रय पर और आपके आशीर्वाद पर उन तथाकथित गजों का ही मान्य अधिकार रह गया है. उनमें से भी अनेक गज जो स्वयम् ही अपने आप को सफेद हाथी मान ले रहे हैं, अपनी तुलना एरावत के बल से करने वाले ऐसे गजों के उत्पात से जगज्जननी मां धरती भी दुखी होकर अपनी कोख से वर्ष-प्रतिवर्ष अकाल ही उगलने लगी है. हे गणपति ! सदियों से आप धर्म के द्वारा गणपति स्वीकारे गये हैं. इसलिये आप धर्म

के अनुसार हम गणों को ही अपना अनुचर स्वीकारें. हे मरुतों ! रुद्र पुत्र ! आप अपने घ्राण-बल से, प्रतिष्ठा बल से या कि शिवतत्व से उन तथाकथित गजों के प्राण हर लें, 'वा कि अश्वत्थामा' की तरह इनकी भी गजमणि निकाल लें, जिससे ये स्वयम् ही मरे समान होकर रह जाएँ, आपके विघ्नहर्तत्व भाव से जो दुर्बुद्धि अपरिचित है. उनका आपके द्वारा नाश हो.

हे बुद्धिपति ! आपकी कन मात्रा दया से ही मेरी जड़ बुद्धि कनक और कनक से कुन्दन हो गयी है. मैं जान गया कि कथित देवलोक वासियों के हास-परिहास से ही आप गणपति हो गये. ज्ञानीजी कह गये हैं कि जब लगातार विघ्न होते रहने से देवलोक में संकट पैदा हो गया, तब आग्नेय रूपा शिव ने सौम्य रूपा पार्वती की ओर देखा एवम् हँसते-हँसते परम तेजस्वी सर्व-गुण-सम्पन्न आप कुमार रूप में प्रकट हुए. सम्पूर्ण विश्व में आश्चर्य छा गया. इतनी छोटी वय में गणपति आप ही हो सकते थे. भगवन्, ब्रह्मा ने आकाश-मार्ग से जाकर देवताओं को दर्शन दिये तब शिवजी ने तुम्हें कहा, हे कुमार ! इस जगत में तुम्हारी पूजा सबसे पहले होगी, अन्यथा तुम कार्य-सिद्धि नष्ट कर दोगे. हे देव ! तब से ही प्रत्येक शुभ कार्य से पहले हर पुस्तक में, हर अखबार में, चाहे वह दैनिक हो साप्ताहिक हो वा मासिक, रेडियो हो वा टेलीविजन सर्व प्रथम और मुख्य रूप से आपकी ही छवि नजर आती है. शताब्दियाँ बीत गईं, लोग विलायत तक भी पढ़ आये, लेकिन रास्ते न बदले, और आपका प्रभाव यथावत है. हे देव ! आप विघ्नहर्ता हैं, तो 'विघ्नराजो गणाधिप:' भी आप ही हैं.

हे गणपति ! जब देवताओं में श्रेष्ठता की परीक्षा हुई तो यह दुर्लभ पद पाने के लिये तनिक-सी भी देर नहीं लगी आपको. लोग न जाने कितने ब्रह्मांडों और लोकों के चक्कर खाने में लगे रहे. और, आप पूज्यश्री शिव की परिक्रमा करके सम्पूर्ण लोकों को लांघ लिये. आपने कमजोर साधनों यथा चूहा वाहन लेकर, स्थूल तन ढो कर भी अत्यन्त चतुराई और बुद्धि से समस्त देवों में श्रेष्ठ होने का गौरव प्राप्त किया. यह प्रमुख पद आपने दया से उपहार में नहीं प्राप्त किया है, अपितु अपनी बुद्धि से जीता है.

हे स्थूल तनु ! आप धीर, वीर और गम्भीर विचार वाले महान देव हैं. तनु होने के मायने आपके आलसी और शिथिल होने से नहीं, गोया कि कई अल्प-बुद्धि लोग ऐसा मान लेते हैं, आप चूंकि गणपति जैसे देवों के देव के पद पर आसीन हैं, अत: आप दसों-इन्द्रियों के स्वामी हैं. 'तन्मे नम. शिव संकल्पस्तु' अत: मोक्ष और ज्ञान प्राप्ति के लिए मन रूपी गणपति की उपासना आवश्यक है. हे इन्द्रियों के स्वामी ! आप स्थूल तनु बने रहें, इसी में जीव का कल्याण भाव निहित है. आपके गण चूहों की भांति सेवा में तन-मन से समर्पित रहें. हे देव ! जैसा कि मैं अल्प-बुद्धि पहले भी कह चुका हूँ कि 'देव और वाहन की प्रकृति समान होती है.' अत: हे देव ! जो लोग आपकी भौतिक प्रकृति और स्थूल गुणों का अनुसरण करते हुए स्वयम् को देव मानने लगे हैं, और प्रमादी हो गये हैं, और शिव के आग्नेय तत्व को ही तत्व

मानकर सौम्यता का त्याग कर चुके है. हे देव ! आपके वे सेवक विघ्नहरण की जगह विघ्नकरण का सा आचरण करने लगे हैं. इसलिये हे गणपति ! आपके द्वारा ऐसे दुराचारियों का नाश हो. जैसे गरुड़ यद्यपि भगवान विष्णु का वाहन है, किन्तु उनकी आज्ञा से अपनी इन्द्रियों पर संयम रखता है और अकारण सांपों पर झपट नहीं पड़ता है, अन्यथा, विष्णु की शैया ही संकट में पड़ जाती. इसी तरह हे संकट-मोचन ! आप भी अपने इन तथाकथित भक्तों को संयम के लिए बाधित करो, ताकि ये आपके लिए भी कोई संकट खड़ा न करें, उससे पूर्व ही हे लम्बोदर ! अन्तरिक्ष से भी अधिक विस्तीर्ण उदर में ऐसे पापियों को अपना सेवक न मान कर, मानवता का रिपु मान उदरस्थ कर लीजिये.

हे लम्बोदर ! आपके कीर्ति-प्राण मरुत की भांति अन्तरिक्ष से भी अधिक विस्तीर्ण हो. हे गज-कर्ण ! अपने दिशाओं से भी विस्तृत कर्णों में हम गणों की बात को भी पहुँचने दो और संकट की इस वास्तविक घड़ी में आप हम पर कृपालु रहें. हे त्रिलोचन ! तीनों भूत ज्योतियाँ आपके ही आधीन हैं, आप उनका उपयोग करें और आपकी सेवा कर वे अधिक प्रभावी होवें, अपने को धन्य समझें. हे प्रतिभा-पति ! आप प्रतिभाओं से सम्मानित होते रहें और प्रतिभाएँ भी आपसे सम्मानित होती रहें क्योंकि, भगवान और भक्त भी कहीं-न-कहीं तो अनोन्याश्रित हैं ही और कि, सम्मान देकर ही सम्मान प्राप्त किया जा सकता है. हे कायापति ! यदि कोई अल्पज्ञ कभी गरिष्ठ बात कह दे तो आप अपने विशाल उदर में उसे पचा लें और आपकी आराधना से हमें भी ऐसी शिक्षा हासिल हो, बात पचाने के गुण हमें भी प्राप्त हों. हे खर्व देही ! आप हमेशा नम्रता धारण किये रहें और हमें भी ऐसा वरदान दें.

हे गजेन्द्र-बदन, आपका मस्तक हाथी के समान विशाल है. हाथी में जैसे बुद्धि और गम्भीरता का विलक्षण समानुपातिक सम्मिश्रण रहता है वैसे ही हे देव ! आपमें दोनों ही गुणों का अतुल भण्डार विद्यमान है. हे एकता के प्रतीक एक-दन्ती ! आपको मेरा नमस्कार है. हे सिन्दूर धारण करने वाले गणपति ! आप सम्पूर्ण चराचर के सौभाग्य के सूचक बने रहें और आपको दूब प्रिय रहे. जैसे कि नानक ने कहा है—

नानक नन्हे बनि रहो, जैसे नन्ही दूब,
सबे घास जरि जायगी, दूब खूब की खूब.

हे मोदक प्रिय ! आपको सदा नम्रता और सादगी पसन्द रहे, धीर और विनयशील लोगों पर आपकी कृपा सर्व विदित है; वह कृपा सदा ऐसी ही बनी रहे.

हे देव ! आजादी से पूर्व मेरे देश के लोगों ने आपकी पूजा-भावना को विस्मृत कर दिया था. वे आपकी अर्चना-आरती में शिथिल हो गये थे. तब 'तिलक' जैसी महा विभूति ने लोगों में जागरण का शंख फूंका. हे जागरण के प्रतीक ! तब से आपका उत्सव गणोत्सव का प्रतीक बन गया है. हे गणपति ! इस तरह यह गणोत्सव हम गणों का आपके प्रति श्रद्धा का उत्सव है. यह हमारी और आपकी एकात्मकता का प्रतीकोत्सव है. उस समय से घर-घर में गणेश की प्रतिमाएँ निर्मित होने लगीं,

पूजी जाने लगीं और उनका विसर्जनोत्सव 'गणपति बप्पा-मोरिया' धूम से मनाया जाने लगा. हे गजपति ! इसमें तथाकथित गजों की कोई ग्रहम् भूमिका नहीं रहती. गण-गण के द्वारा पूजित इस गणेश महोत्सव का अंग्रेजों ने जितना ही अधिक विरोध किया, लोगों ने इसे गौरव प्रदान किया. हे रिद्धि-सिद्धि दायक ! आपकी कृपा से घर-घर में गणेश-महिमा स्थापित हुई, गली-गली में अखाड़े निर्मित हुए और दंगल आयोजित होने प्रारम्भ हुए. हे क्रान्तिदेव ! आपने देवताओं की भव्य छवि में एक साधारण छवि की महत्ता स्थापित की और अक्ल की बजाय शक्ल पर जाने वालों की दुर्गति आपने ही की. हे विद्यासागर ! आपने ही सर्वप्रथम इल्म और विद्या को स्वीकृति दिलवाई. हे बुद्धिदाता ! बुद्धि स्वयम् और बुद्धिजीवी तो सदैव आपके ऋणी रहेंगे.

जिसके आने की आशा न बराबर हो, लेकिन वहां समय पर आ जाय, यह बात सिर्फ आप में ही है. उत्तर प्रदेश में यह उत्सव बहुरा चौथ को मनाया जाता है. एक बार शीश कट जाने के बाद भारत के तथाकथित विपक्ष की भाँति पुनर्जीवित होकर आने का चमत्कार देवों में आपके अतिरिक्त कोई नहीं दिखा सकता. हे पुरुषों में प्रथम और पूज्यों में प्रथम ! मानव मात्र के रिद्धि-सिद्धि दायक हे विनायक ! हे गणपति ! आपकी जय हो, जय हो, जय हो…… …

हे गणपति ! आप मेरे देश के नेताओं की भाँति अपने गणों को खुले सांड की तरह सींग मारने की आजादी न देना, यह हम गणों की आपके गजों के प्रति ताऊ-मार्का टिप्पणी नहीं है और न ही इसमें ईर्ष्या वा द्वेष का लेश भी सम्मिश्रण है. हे गणपति ! आप गणाधीश होने के नाते गणों के प्रति ही मूल रूप से समर्पित रहें, यह हम गणों की आपको साधनापूर्वक की गई आराधना है. हे प्रभु ! हम आपके गुणों से सदैव ही अभिभूत रहे हैं. आपकी शक्ति के प्रति विश्वास से ही हमने अपना भूत-भविष्य आपके श्रीचरणों में सौंप दिया है. विद्वानों के प्रति आपकी सदेच्छा और कलाकारों के प्रति आपके उदार दृष्टिकोण और बुद्धिमानों का आदर करने वाले आपके अनेक गुणों को हम बारम्बार नमन करते हैं. हे गणपति ! आपके ही कर-कमलों द्वारा वेदव्यास द्वारा उच्चारित महाभारत वाणी की गति से और सुवाच्य लिपि में लिखा गया. मेरा देश आपका यह उपकार प्राप्त कर गौरवान्वित है. महाभारत का महाग्रन्थ आज भी इस देश की सांस्कृतिक, साहित्यिक और आध्यात्मिक धरोहर है. देववाणी में लिखा यह ग्रन्थ अपने में आपकी छवि समेटे हुए है. महाभारत तो है ही बुद्धि कौशल का ग्रन्थ.

हे बुद्धिपति ! आपकी तरह ही मेरे देश के नायक धीर, वीर और बुद्धिवान बनें और सही मायने में गणपति कहलाने में गौरव महसूस करें जो कि, आजकल गणपति कहलाने में गर्व करते हैं. हे प्रभु ! आपके आशीर्वाद से उनमें गण के प्रति प्रतिबद्धता जाग्रत हो, अपनों के प्रति, अपनी भूमि, अपनी सस्कृति, अपने समाज और उसके लोगों के प्रति, अपनी भाषा के प्रति, उनमें मोह जाग्रत हो. आपकी कृपा से वे सोचें कि आपने अंग्रेजी में महाभारत क्यों,नहीं लिखा, वे सोचें कि आप विश्व

परिक्रमा के लिए वायुयान से या कि किसी अन्य तेज उड़ने वाले वाहन की अपेक्षा चूहे पर चढ़कर क्यों रवाना हुए. वे यह भी सोचें कि क्यों लोग आज भी आपको बुद्धि का देवता और रिद्धि-सिद्धि का स्वामी मानते हैं. हे महामानव, हे महादेव सुत, हे गौरीनन्दन ! आज हमारी मातृभूमि के पास सर्वमान्य अपनी जिह्वा नहीं है, इसलिये मेरे देश के पथप्रदर्शक खास मौकों पर विदेशी भाषा में तुतलाने को मानसिक रूप से मजबूर है. हे समृद्धि दायक ! आप इस देश की, इस राष्ट्र की भाषा को समृद्धि दिलाइये, जिससे वह मान पा सके.

हे देव ! आपके वाहन मूषक भी इस देश में प्रकृति और प्रगति को समान रूप से चाट रहे हैं और आपके गज इस नन्द-कानन को उजाड़ने पर आमादा हैं. आप उनमें आपकी प्रखर बुद्धि का शतांश ही भर दें, जिससे उनमें से ही निकलने वाला कल का भविष्य सुनहरा हो. इसी से इस देश की कीर्ति की श्रीवृद्धि होगी. हे सकल दुखों को दूर करने वाले दुख-हरण ! आपकी जय हो. हे गणों के ईश, हे वर्तमान के, भूत के और भविष्य के गणनायक ! आपकी जय हो········आपकी जय हो········ आपकी जय हो········

कलुआ के बहाने

कलुआ ने दाढ़ी बनाने के लिए ज्योंही आईना उठाया, उसने देखा आईने में जो भी दिख रहा है, वह उसका अपना चेहरा नहीं है. वह उसके पड़ौसी का चेहरा भी नहीं है. वह उसके दिल में बसी उसकी घरवाली का चेहरा भी नहीं है, जिसे वह धीमी-सी आह भर कर देखता है. उसे लगा कि उसका आईना ही धुंधला गया है. तब उसने बेटे रघु को पड़ौसी का आईना लेने भेजा. वह चकित रह गया कि इस आईने में भी उसे कोई स्पष्ट चेहरा नजर नहीं आया. उसे लगभग विश्वास हो गया कि खराबी आईने में नहीं, उसकी नजर में है. उसने अपनी पत्नी की बड़ी-बड़ी आंखों में झांका तो पाया कि वहाँ उसकी तस्वीर साफ दिखाई दे रही है. वह उलझन में पड़ गया कि खोट कहाँ है !

कलुआ उलझन में पड़ सकता है, क्योंकि वह बेपढ़ा और सीधा-सादा इन्सान है, जो अपनी पत्नी और बच्चों के अतिरिक्त अपने रोजगार में ही दिलचस्पी रखता है. वह तो आईना भी गाहे-ब-गाहे देखता है किन्तु, इस युग के प्रदूषण को क्या कहें जो अपने पर फैलाता-फैलाता कलुआ के आईने तक पहुँच गया है. जैसे पीलिया फैलते-फैलते आँखों और नाखूनों से होता हुआ पूरे बदन पर अपना रंग साया कर लेता है. अनपढ कलुआ की इस व्यथा को प्रत्येक दो अक्षर पढ़ा हुआ आदमी सरलता से समझ रहा है, गो कि सभी इसे न समझ पाने का नाटक करते रहते हैं. आखिर हम सावन में हरा ही हरा के मुहावरे को तो समझते ही हैं.

यदि हम कलुआ को समाज की इकाई के साथ-साथ समाज का प्रतिनिधि भी मान लें तो इस समाज का दर्पण किस कदर धुंधलाता जा रहा है, इसे भी समझ ही सकते हैं. वैसे धुंधला होने से अर्थ धुंध कोहरे और अस्पष्टता से होता है. और, इस अर्थ में दर्पण धुंधला नहीं हो गया, बल्कि वह तो एक स्पष्टता से अप-संस्कृति की सेवा में लगा हुआ है. जब हम बाल संवारने को दर्पण देखते हैं तो दर्पण हमें रीको वा एच. एम. टी. घड़ियों का समय दिखाता है. जब हम कपड़े देखना चाहते हैं, तो दर्पण हमें बड़ी-बड़ी मीलें, कोका-पैप्सीकोला के संयंत्र दिखाता है और, जब हम रोटी देखना चाहते हैं, तो दर्पण हमें ड्राई फूड खाते हुए रेमण्ड, विमल या भीलवाड़ा की शूटिंग-शर्टिंग दिखाता है. कलुआ जब भी समाज के इस दर्पण में अपना चेहरा देखना चाहता है, अखबार किसी-न-किसी बड़े नेता का चेहरा उसके सामने रख देता है.

साहित्य और संस्कृति का प्रदूषण कलुआ को संभवत: आह्लादित भी करता हो क्योंकि, इससे उसका सस्ता मनोरंजन तो हो ही जाता है. इसके दूरगामी परिणामों की चिन्ता कलुआ जैसे इन्सानों को नहीं व्यापती. वह समझ ही नहीं पाता कि उसे व उसके परिवार को, उसके समाज को, संस्कारों को और संस्कृति को किस योजना-

बद्ध तरीके से एक विशेष दिशा की ओर धकेला जा रहा है. किस प्रकार उसके समाज को परावलम्बी बनाने का अभियान-सा चल रहा है. सिर्फ कलुआ की ही बात होती तो अलग बात थी. यहाँ तो प्रेमचन्दजी के शब्दों में 'समाज के आगे आगे मशाल लेकर चलने वाले साहित्यकार, लेखक, पत्रकार, और एपिसोड राइटर तक एक प्रकार की ठकुर-सुहाती मानसिकता वाले हो गये हैं. आईने रूपी साहित्य, अखबारों, रेडियो रूपको, और दूरदर्शन के एपिसोडों द्वारा आईने की गुणधर्मिता को बदलने की कुत्सित कोशिश करने वाले ये लोग ही तो हैं. इन्हें चिन्ता नहीं कि आने वाला कल इनके बारे में क्य लिखेगा.

यह सिर्फ शब्दों द्वारा अपच उगलने वाली आंत नहीं है. यह मात्र हवा में आग बरसाने वाली बात भी नहीं है. इससे असहमति व्यक्त करने वाले भी अपने हृदय पर हाथ रखकर किसी भी अखबार को उठाकर देख सकते हैं कि उसमें प्राथमिकता किसको दर्ज है, कलुआ को ? जो देश की अस्सी प्रतिशत जनता का प्रतिनिधित्व करता है या कि, दो प्रतिशत उन अंग्रेजी-दां लोगों को, जिनका शगल मात्र राजनीति है, और वह भी देश की मिट्टी से जुड़ी हुई नहीं. वहाँ प्राथमिकता मिलती है सिनेमाई संसार को, जिसकी फन्ताशी आदमी को काल्पनिक-लोक का सुख देती है और यथार्थ जिन्दगी में कुण्ठा व निराशा. आज प्राथमिकता में आ गये हैं नेता, जिनका स्वयम् का भविष्य अल्प होता है और जो जनता को भ्रमित करने में ही येन-केन-प्रकारेण मुद्रा में लगे रहते हैं—पांच वर्षों तक. तब कलुआ की बात ही कहाँ ठहरती है. किसी को भी पूछने पर जवाब मिलता है कि लोग ही इन्हें देखना, पढ़ना और सुनना चाहते हैं. तो इससे आगे एक सवाल और है कि लोग अपना, अपनी बीबी-बच्चों का या कि अपने समाज का चेहरा क्यों नहीं देखना चाहते ? क्या उनके चेहरों में कुरूपता आ गई है ? क्या समाज के चेहरे को कोढ़ हो गया है ? यहां यह भी तथ्य है कि भयानक से भयानक रोग हो जाने पर भी कोई अपने चेहरे से नफरत नहीं करता. इसके गवाह जहाँ 'तमस' जैसे धारावाहिक के अलावा नुक्कड़, इन्तजार, मुंगेरीलाल, निर्मला, कबीर जैसे धारावाहिक, और मैसीसाहब जैसी फिल्में हैं, वहीं सारिका, हंस, गंगा, मधुमती व लहर जैसी अनेक समसामयिक चेतना वाली पत्रिकाएँ उग आना और फिर उनका धड़ल्ले से चले जाना भी है.

मानवीय मूल्यों का ह्रास, आदमी के आदमी से जुड़ने से नहीं होता, बल्कि दूर हटने से होता है. पब्लिक स्कूलों के नाम पर एक अंग्रेजदां संभ्रान्त वर्ग का निर्माण, नगरीय मानसिकता और कारखानेदार संस्कृति के नाम पर विखण्डित आर्थिक सोच और विघटन की प्रक्रिया को बल देने वाले फन्तासी साहित्य की और ऐसी ही फिल्मों की संरचना क्रिकेट और दूसरे ऐसे खेल, जिनसे आदमी की टूटन का, उसकी पीड़ा का, यातना और संघर्ष का कोई वास्ता न हो, ऐसे सिनेमाई, राजनीतिक और प्रेम-साहित्य की संरचना ही नहीं, उनकी बाढ़-सी आ जाना, पैसे और सुदृढ़ संगठन के बल पर उनका गांव-गांव व नगर-नगर व्यापक प्रसार, प्रचार आदि का उद्देश्य आदमी को सस्ते मनोरंजन में इस प्रकार लिप्त रखना होता है कि वह कुछ सोचना

चाहे ही नहीं. सोचने के नाम से ही सर में दर्द हो जाने के विज्ञापन, और तनाव के बारे में अतिरिक्त भय का सृजन करना और आदमी को तनाव से दूर रखने का हर सम्भव प्रयत्न यथास्थिति को बनाये रखने के प्रयत्न ही हैं. क्योंकि, यथास्थिति में समाज पर जिस वर्ग का प्रभुत्व है, वह बना रहे. यही काम मध्ययुग में पुराणों के द्वारा और अनेक अन्य धार्मिक कानूनों के द्वारा तात्कालिक मठाधीशों ने किया था और इसके बल पर ही योरोप में और भारत में भी धर्म के ठेकेदारों का अनेक वर्षों तक समाज पर प्रभुत्व कायम रहा था. आज इसके लिए इस अप-संस्कृति का सहारा लिया जा रहा है.

आज की कविता और आज के साहित्य के नाम पर जीवन से हटी हुई रचनाएँ लोगों को कड़वी दवा की तरह पिलाना, इसी संस्कृति का लोगों को ज्ञान और साहित्य से दूर रखने का दूसरा कुमार्ग है. ऐसी रचनाएँ यदि शरबत-सी मीठी और मादक भी हों तो सार्थकहीनता के कारण ये समाज के लिए धेले जितनी भी उपयोगी नहीं होतीं. ऐसी रचनाओं के लिए धन व श्रम का अपव्यय करना हाल के पुंसत्वहीन समाज में ही सम्भव है. इससे समाज के आम आदमी का विश्वास बुद्धिजीवियों के प्रति कम होता जाता है, जिसे बाद में समय आने पर भुनाया जाता है. यहाँ हम इतनी ही कामना कर सकते हैं कि ये षड़यन्त्र अधिक समय तक जारी नहीं रह सकेंगे.

इसके लिए हमें कलुआ के मानस तक दस्तक लगानी होगी. उसमें इतनी क्षमता जगानी होगी कि वह यह समझ पाये कि वह भी आदमी है. आदमी होने के लिए हाथ-पाँव और सिर समेत आदमी की शक्ल होना ही काफी नहीं है. यह अहसास भी जरूरी है कि वह आदमी है और आदमी किसी के इस्तेमाल की वस्तु नहीं होती. यह भी कि इस्तेमाल की जा सकने वाली वस्तु जिन्स कहलाती है और कलुआ जिन्स नहीं है. इस समाज में बहुत से लोग इस्तेमाल किये जा रहे हैं. महिलाएँ तो धड़ल्ले से और हजारों मुखर विरोधों के बावजूद विज्ञापनों में जिन्दा जिस्म के जरिये, मरने पर सती होने और न होने की बहस के जरिये. यथार्थ में आज एक वर्ग विशेष को यह मुगालता हो गया है कि वह हर चीज का इस्तेमाल कर सकता है और वह इसके लिये स्वतन्त्र भी है. कलुआ को यह एहसास होना प्राथमिक जरूरत है कि ऐसा नहीं हे, अगर है भी तो निहायत अल्पकालिक है, वक्ती तौर की बात है शाश्वत सत्य नहीं. यह हमेशा के लिए नहीं, क्योंकि पूर्व में बहुत समय से होते आने के बावजूद यह नाजायज है; नाजायज होने के बावजूद भी यदि आदमी को जिन्स समझना धड़ल्ले से चालू है, तो सिर्फ इसलिये कि कलुआ और उसके समाज ने, जिसमें हम-आप भी शामिल हैं, इसे ही नियति मान लिया है. महिलाओं के लिए भी यही बात और इसी तरह है. आवश्यकता सिर्फ असहमति व्यक्त करने की ही नहीं है, बल्कि हर कदम पर इसका मुखर प्रतिरोध भी आवश्यक है.

व्यापक परिदृश्य के लिए समस्याओं का अलग-अलग विश्लेषण अनिवार्य नहीं होता. कभी-कभी अधिक विश्लेषण समस्याओं के धागों को उलझा देता है. इस फलक में रोटी, महंगाई, कपड़ा, दहेज, सामाजिक सुरक्षा, गरीबी आदि अनगिनत समस्याओं

के प्रति ध्यानाकर्षण नहीं है, क्योंकि समस्या से पहले यह समझना और समझाना जरूरी है कि समस्याएँ हैं भी. लोग तो इसे समस्या ही नहीं मानते. इसलिये सबसे पहले समस्याओं का अहसास और फिर उससे असहमति आवश्यक है. यदि कलुआ और उसका समाज यथास्थिति से असहमति की बात को महसूस भर कर लेता है तो फिर आईने की गुणवत्ता बदलने की हिम्मत भी शायद ही कोई कर सके. अड़ने के बाद तो गधा भी टस से मस नहीं होता. हमें विश्वास है कि कलुआ गधे से तो बेहतर और बहुत ही आगे है. जरूरत सिर्फ इस अहसास की है कि दर्पण धुंधलाया नहीं है, बल्कि उसकी गुणवत्ता ही बदलने का नियोजित षड़यन्त्र रचा जा रहा है, जिससे असहमति प्रकट करना अनिवार्य है.

शैलेश मटियानी ने 'चौथी दुनिया' में लिखा है कि अंग्रेज गये पर राम के खड़ाऊ की तरह अपने जूते यहीं रख गये, जिन्हें हम भारतीय आदर्शों की तरह मान रहे हैं. उनकी वेश-भूषा, उनकी संस्कृति, उनका खानपान, उनके समाज को, उनकी रीति-नीति को आदर्श मान कर. यानी कि कलुआ को योजनाबद्ध तरीके से अंग्रेज बनाया जा रहा है. उसके समाज के बुद्धिजीवियों पर, और संस्कृति की पोषक और एक मायने में वाहक भी यानी कि महिलाओं पर भी अंग्रेजियत लादी जा रही है. कलुआ इससे भरपूर असहमत है. वह तो इस वेशभूषा वाले अपने गाँव के मास्टर को भी अपना नहीं समझ पाता, गो कि वह ऐसे ही किसी गाँव से आता है. तब भी वह इस षड़यन्त्र का सिरपैर भी समझ नहीं पाता, बस मूक रह कर ढोये जा रहा है, इस सबको शायद नियति मानकर. जो लोग इस षड़यन्त्र को समझ-बूझ रहे हैं, वे लालच से, दबावों से या अन्य कारणों से, शायद भीतर की नपुंसकता के कारण; मुंह सिये बैठे हैं और रंगे सियार की संगत में 'हुंआ-हुंआ' किये जा रहे हैं. ऐसी स्थिति को इसी स्थान पर रोकना पहला कार्य हो जाता है और फिर इस धारा को मोड़ना दूसरा.

मार्क्स ने कहा है कि जब कोई समस्या पैदा होती है तो अपने समाधान का सामान साथ ही लेकर पैदा होती है. इस तरह यह मानना कि इसका कोई समाधान है ही नहीं, एक तरह से झूठ बोलना होगा. झूठ न भी हो तो यह अपने दायित्व से मुँह चुराने की बात तो है ही. यह बात तो है नहीं कि हम समस्या को समझें नहीं. कुछ स्वार्थी-तत्व ऐसा समझ लें तो दीगर बात है, लेकिन यह प्रश्न कलुआ का ही नहीं, वर्तमान समाज की अस्मिता का प्रश्न है, यह हमारे समाज और हमारी संस्कृति पर हो रहे हमले का प्रश्न है, यह हमारे इतिहास और पुरातात्विक धरोहर की सुरक्षा का प्रश्न है, यह हमारे अपनेपन की प्रतिरक्षा का प्रश्न है. यह प्रश्न एक अकेले कलुआ का नहीं और न ही इसे अकेला कलुआ या कोई अन्य अकेला हल कर सकेगा. लेकिन यह सही है कि आज भी इसके लिए परिस्थितियाँ विशेष प्रतिकूल भी नहीं हैं. दिक्कत यह है कि जिस वर्ग पर यानी कि लेखक, साहित्यकार और पत्रकार पर यह जिम्मेदारी है, उसने अपनी विश्वसनीयता का ह्रास कर रखा है. इसलिये इस समस्या का रूप और समाधान जानने के बावजूद कुछ नहीं हो रहा है. कलुआ की बात कलुआ

को समझाने के लिए, एक प्रश्न की तरह कलुग्रा के सामने उपस्थित होना काफी नहीं है, बल्कि कलुग्रा बनकर उसके पास जाना, उसका बनना और कलुग्रा को स्वयम् से एकाकार ही कर देना अपेक्षित है. कलुग्रा से सार्थक संवाद के लिए इस हद तक जाना समय की मांग भी है, संकट का औचित्य भी और लेखकीय जिम्मेदारी भी. तब ही इतिहास इस बात का यकीन करेगा कि साँस्कृतिक प्रदूषण का हल तो बीते समय में माना कि न हो पाया हो, लेकिन अपने समय में इसके लिए कोई ईमानदार कोशिश अवश्य की गई थी. कम से कम इतना तो अवश्य ही माना जायगा कि साहित्यकार, पत्रकार वा कलुग्रा की नजर धुंधली नहीं है.

सृजनात्मकता के नीड़ से अन्तर्संम्बन्ध

आज के हर बुक्काफाड़ की समस्या है—रोटी, कपड़ा और मकान. रोटी को मजबूरों और मजदूरों के लिए छोड़ दिया गया है. रोजी के नाम पर नेता रोटियां सेंक लेते हैं, शेष रहता है—घोंसले का चोंचला. यह उपज औद्योगिकी की है. भूख और नंगई के बाद ठेठ गंवई अन्दाज में बयान करें तो समस्या शेष रहती है—टापरे की. बम्बई जैसे महानगर में यह समस्या अपने विकराल रूप में है. महानगरों में झुग्गियों की नई-नई बस्तियां बसती रहती हैं, और बाढ़ से कि औद्योगिकी के बरदान से उजड़ती भी रहती हैं. अनेक सामाजिक संगठन इससे ही अपनी देह में प्राण वायु का संचार पाते हैं. साहित्यकारों का भी यह एक प्रिय विषय रहता आया है. बया व बन्दर की लोककथा में घोंसला ही तो प्रमुख है. चिड़िया भी तो घोंसला बनाकर ही हौसले वाली मानी गई है. किन्तु यह सारी रामायण-महाभारत नीड़ के बाह्य स्वरूप पर है. नीड़ के निर्माण पर सोचने का एक दूसरा पहलू भी होता है—उसके निर्माण के लिए वांछित मानसिकता का होना, उसके लिए वांछित सृजनात्मकता की भावना का होना, उसके लिए आवश्यक योग्यता और इच्छा-शक्ति का होना. नीड़ के निर्माण के लिए किस प्रकार की मानसिक सृजनात्मकता की आवश्यकता होती है और इसके मूल में क्या चाहना कार्य करती है, इसे तो वही जान सकता है जिसे कभी नीड़ सृजन की वेदना का वैयक्तिक अनुभव हो.

सृजन का नीड़ से दोहरा रिश्ता होता है—प्रथम नीड़ के लिए सृजन और दूसरा नीड़ में सृजन, पहले में घोंसले के लिए सृजन होता है, जबकि दूसरे में सृजन के लिए घोंसला. एक बात दोनों में समान होती है—वह है मानसिक वा आन्तरिक परिपूर्णता. पहले आयाम के यानी कि सृजन के लिए नीड़ के निर्माण के समय की कशिश या कि उसके लिए हूक वा हलकान होने वाली स्थिति से इन्सानों का भावात्मक रिश्ता बिरले ही होता है. क्योंकि इन्सानों में अनेक को तो विरासत में मकान मिल जाता है या कि अपने लिए मकान का निर्माण वे स्वयम् तिनका चुग-चुग कर नहीं करते. इन्सानों के मकान कारीगरों के द्वारा बनाये जाते हैं, अत: तिनका चुग-चुग कर लाये गये और बनाये गये मकान जैसी आत्मीयता वहां नहीं होती. तब भी मकान के लिए वा कि नीड़ के निर्माण के लिए एक वांछित मानसिकता तो आवश्यक होती ही है. इस प्रकार नीड़ के लिए सृजन, और सृजन के लिए नीड़ के अन्तर्सम्बन्ध के लिए आन्तरिक और बाह्य परिवेश दोनों का अनुकूल होना आवश्यक होता है. इन दोनों में से किसी के भी न्यून वा कि अनुपस्थित होने पर सृजन वा कि सन्तान का विकलांग होना संभावित होता है.

ऐसी बातों को दुरूह कहकर या कि चोंचलेबाजी कहकर उड़ाई नहीं जानी चाहिये. सृजन और कि जहाँ तक लेखकीय सृजन की बात है, वहाँ आन्तरिक पकाव मानवीय

सम्वेदना के अन्तर्सम्बन्धों से निरूपित होता है. इस निरूपण में बाह्य परिवेश का भी उतना ही महत्व होता है. पकाव की बाह्य स्थितियों के निर्माण को ही नीड़-निर्माण कहा जा सकता है. इस सम्बन्ध में अनेक लेखकों के अन्यानेक दृष्टिकोणों से 'मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना' वाली स्थिति हो सकती है लेकिन, तब भी प्रत्येक दृष्टिकोण के केन्द्र में नीड़ तो रहेगा ही.

उचित लेखन के लिए उचित वातावरण की, और उचित वातावरण के लिए उचित नीड़ की तलाशी तो हर लेखक को रहती है. कुछ अपवादों को छोड़कर हर लेखक एक अच्छे नीड़ की तलाश में रहता है. कई सम्वेदनशील लेखक नगर के कोलाहल से दूर एकान्त में कॉटेज में बैठ कर बेहतर सृजन करने को लालायित रहते हैं. गुरु रवीन्द्रनाथ टैगोर ने 'माई अरली लाइफ' में नदी के किनारे या घर के भीतर कहीं एकान्त में बैठकर साहित्य साधना का जिक्र किया है. नदी के किनारे, किसी एकान्त झील के किनारे, किसी शान्त मोहक बगीचे में, या किसी छायादार और फूलदार वृक्ष की टहनी पर लटक कर या बैठ कर अज्ञेय के कविता-पाठ को यह अकिंचन टी.वी. के पर्दे पर देख चुका है. इस तरह के एकान्त में जिस तन्मयता से लेखक का साक्षात्कार तन्हाई से होता है और इस साक्षात्कार के फलस्वरूप जो सृजन-प्रक्रिया होती है, वह झाड़ियों के झुरमुट में मोरनी के अण्डे देने से कम रोमांचकारी प्रक्रिया नहीं होती. पन्तजी हमेशा प्रकृति के खुले वातावरण में कलकल करती नदियों और झरनों के सानिध्य में साहित्य चिन्तन करते थे. प्रकृति भी ऐसे ही अनुपम वातावरण में मृगी के माध्यम से सुन्दर-सुन्दर और भोले मृगों की नस्ल का निर्माण करती है. ऐसे कोमल सृजनों में प्रकृति के साथ एकात्मकता का और रागात्मकता का प्राधान्य रहता है.

यह सारी प्रक्रिया सृजन के लिए वांछित वातावरण का निर्माण करती है. फिर चाहे कोई इसे घोंसले कहें या कि कुछ और इस प्रक्रिया की तुलना बड़ी-बड़ी कोठियों के निर्माण के लिए या कि व्यापारिक कॉम्प्लेक्स के लिए झुग्गियों पर बुलडोजर फिराने से नहीं की जा सकती. न ही ये चोंचले बाढ़ में बह जाने के बाद घोंसलों को तलाशने के लिए हवाई सर्वेक्षण के तुल्य है. यह तो नवांगतुका के स्वागत की तैयारियों जैसा ही है; जैसे कि प्रकृति वसन्त का करती है. वातानुकूलित शान्त कमरों में बैठकर एकान्त साधना, और गूढ़-सृजन नर्म घोंसले में बैठकर चिड़िया के अण्डे देने जैसा ही हैं. क्षणिका वा लघुकथा के सृजन को लेबर रूम में हुए प्रसव से भी जोड़ा जा सकता है.

लेखक के मकान का किसी पहाड़ के पास होना या नदी किनारे होना अथवा शान्तिपूर्वक लेखन के लिए कॉटेज का वा एयरकण्डीशन्ड भवन का निर्माण सृजन के हित चिड़िया द्वारा बेहतर से बेहतर घोंसले के निर्माण की आन्तरिक चाहना ही है. यह नेताओं की नहीं, वेत्ताओं की बात है. अत: यहाँ महज आश्वासनों का अथवा प्रपंच का नहीं, वरन्च संजीदगी का दखल होता है. जितना सुविधा सम्पन्न लेखक होता है, उसका घोंसला भी उतना ही सुरुचिपूर्ण, सौम्य और शालीन होगा.

सृजन के लिये नीड़ से पूर्व, नीड़ के लिये सृजन की प्रकिया चलती है. यदि चिन्तक की तरह सोचा जाय तो यह क्रिया सृजन से पूर्व सृजन की प्रक्रिया है. और, इसका महत्व रचना के सृजन से किसी भी प्रकार कम नही होता. जिस तरह चिड़िया अण्डे देने से पूर्व चुग-चुग कर तिनकों, नर्म घास के रेशों, रूई और कपड़ों की चिन्दियों का संग्रह करती है और कि जैसे गिलहरी मनोयोग से अपनी खोखल को कमरे की तरह सजाती है या कि जैसे भ्रमरी तालाब से पानी और मिट्टी इकट्ठी करती है और तितली या मधुमक्खी फूल-फूल से रस संचय करके अपने छत्ते का निर्माण करती है. लेखक भी कमोबेश वैसे ही अपने लिखने-पढ़ने के कमरे का बनाव-शृंगार और चुनाव भी, सतर्कता और सावधानी के साथ करता है. इसमें एक गैरमामूली तन्मयता की जरूरत है जो माहौल के कारण अपने-आप आ जाती है. स्पष्ट है कि लेखक को भी दोहरी निर्माण प्रक्रिया से गुजरना पड़ता है. एक तो रचना के लिए सही परिवेश का निर्माण व दूसरे उस परिवेश में रचना का निर्माण.

लेखक की आन्तरिक तन्मयता के लिए बाहरी घोंसले का महत्व असंदिग्ध है आज चूंकि आवास की समस्या हर जगह मुँह बाये खड़ी है और लेखक भी इससे अछूता नहीं है, तब इसका असर उसके लेखन पर भी पड़ सकता है. हम कह सकते हैं कि कई बार रचना का गर्भपात भी हो जाता है. इसलिये लेखक की घोंसले की समस्या को लेखकीय चोंचला कहकर नकार देना, सम्पूर्ण लेखक जगत के लिए खतरनाक साबित हो सकता है. इस सम्बन्ध में लेखक का मजाक उड़ाना उसके साथ, उसकी संजीदगी के साथ अन्याय है. दुख तब बहुत अधिक होता है जब अधिकांश लोग इसे समझ ही नहीं पाते और लेखक की इस मूल समस्या पर कच्ची टिप्पणी कर बैठते हैं. वे यह समझ ही नहीं पाते कि सृजनात्मकता का नीड़ से और नीड़ का निर्माण से अन्तर्सम्बन्ध कितना निर्विवाद है.

धर्म की बात

धर्म की बात यह है कि मनुष्य बेलगाम घोड़ा नहीं है.
न वह पगलाया सांड है.
मनुष्य न तो उन्मत्त हाथी ही है, न भंग पिया हुआ बन्दर.
मनुष्य तो मनुष्य है—विधाता की अतिप्रिय कृति.
धर्म की बात यह है कि मनुष्य धर्म को पालता है.
इस मनुष्य-जाति का एक गौरवमय इतिहास है और है एक उज्ज्वल भविष्य.
हमारा वर्तमान अवश्य सुरमई है, लेकिन आवश्यक नहीं कि यह कालिमा आने वाले समय में लम्बी काली रातों को जन्म दे.
सम्भव है कि यह अन्धेरा भोर से पहले का अन्धेरा हो.
जब हम इतिहास के पृष्ठ पलटते हैं, पुराने मूल्यों, आदर्शों और महापुरुषों के विचारों का चिन्तन करते हैं, तो हमारे ख्याल में डॉविन महोदय द्वारा स्थापित पूर्वज 'बन्दर' की आकृति नहीं बनती. उस समय हमारे जेहन में भगवान कृष्ण, ईसा, मोहम्मद साहब, गुरु नानक, बुद्ध और महावीर आदि किसी महापुरुष का ध्यान आता है. इन महापुरुषों ने धर्म के फ्रेम में जड़ कर आने वाली सन्तानों के कल्याणार्थ अनेकानेक आदर्शों और अद्भुत मूल्यों की स्थापना की.
आज जो आदर्श हमारी पाठ्य पुस्तकों द्वारा बच्चों को रटाये जाते हैं और जो पुस्तकों के रूप में हमारी घरेलू लायब्रेरी अथवा आलमारी की शोभा बढाते हैं और जिन आदर्शों को हम किसी महापुरुष की जयन्ती पर दो शब्द बोलने के लिए भर याद रखते हैं, उन आदर्शों को प्राप्त करने के लिए उन लोगों ने न सिर्फ अपने शरीर को ही कष्ट दिया बल्कि महाभारत जैसे युद्ध भी भोगे. मनुष्य शरीर की अमूल्यता का ज्ञान उन्हें भी था. आज जब हम थोड़ी-सी परेशानी से बचने के लिए बलात्कार, राहजनी, और डाकेजनी की वारदात तक को अनदेखा कर अपने रास्ते बढ़ जाते हैं तो यकीन जानिये कि समाज में परिवर्तन हमारे बस में नहीं है. वहाँ तो गांधी की भाँति रात भर ठिठुरने का हौसला होना चाहिये. समाज का कल्याण करने के लिये गौतम की तरह राज्य त्याग करने की कूवत होनी चाहिये. भगतसिंह की तरह फाँसी का फन्दा गले में वरमाला की तरह डालने का जिगर होना चाहिये. पंच प्यारों की तरह आत्म बलिदान की सामर्थ्य हो तब ही समाज के लिए कुछ करने की ताकत पैदा हो सकती है. महावीर की तरह अपरिग्रह का संकल्प, दधीचि की तरह हड्डियों तक का दान करने की उदारता हो, तभी उस पथ पर बढ़ा जा सकता है. महापुरुषों ने वही सब किया जो हम सोच भी नहीं पाते. उन्होंने उन मूल्यों का स्वयम् पालन करके लोगों को लोक-कल्याण के रास्ते पर चलने की मार्मिक अपील की. किसी ने ज्ञान का मार्ग खोजा, किसी ने कर्म का मार्ग खोजा, योग, तप या शांति और अहिंसा आदि

प्रेम और भाईचारे व सद्‌भाव से जीवन निर्वाह के अनेक मार्ग मनुष्य मात्र के दुखों को कम करने के खोजे, जो विभिन्न सम्प्रदायों द्वारा अपने-अपने धर्म के रूप में स्वीकार किये गये.

इस तरह से अनेक धर्मों के होते हुए भी विशिष्ट बात यह रही कि किसी भी महापुरुष ने अपने मत में घृणा, द्वेष, बैर, ईर्ष्या वा वैमनस्य जैसी भावनाओं का प्रचार नहीं किया. आज दुर्भाग्य से वैसी स्थिति नहीं रही. आज सहिष्णुता का अभाव हो गया है मानव मन में. धर्म के प्रवर्तक तो अपनी-अपनी बात कह कर त्याग गये नश्वर देह को और पीछे उनके अनुयायियों ने अपनी-अपनी अल्प बुद्धि से धर्म की भ्रामक व्याख्याएँ की, जिससे धर्म का मूल रूप ही बदल गया. लोग धार्मिक अन्धविश्वासों को ही धर्म मानने लगे. हिन्दू धर्म में कर्म के हिसाब से स्वीकार की गई समाज व्यवस्था पहले वर्ण-व्यवस्था के रूप में और फिर जाति-व्यवस्था के रूप में धर्म तले स्वीकारी गई. और, इस तरह धर्म के नाम पर समाज के एक बड़े वर्ग को योजनाबद्ध तरीके से अछूत बना दिया गया. धर्म की बात तो यह है कि इससे समाज पर ब्राह्मणों का प्रभुत्व स्थापित हो गया, लेकिन इसके दुष्परिणाम भी समाज ने भोगे. कालान्तर में इस प्रदेश के लोगों को गुलामी का समय भी देखना पड़ा तो उसमें एक कारण यह भी रहा कि उक्त व्यवस्था में मात्र क्षत्रिय वर्ग पर ही देश की सुरक्षा का भार माना गया. इस तरह तीन चौथाई शक्ति अपने कर्तव्य से धर्म के नाम पर विमुख ही रही. देश की अछूत समस्या के लिए हिन्दू समाज महात्मा गाँधी का ऋणी सदैव रहेगा, जिन्होंने समाज के ललाट के इस कलंक का इलाज करने की सार्थक कोशिश की और कहा कि "वैष्णव जन तो तैंने कहिये, जो पीर पराई जाणे रे." महात्माजी द्वारा उठाया गया यह कदम 'धर्म द्वारा धर्म में परिवर्तन' का अनुकरणीय उदाहरण है.

भगवान बुद्ध ने भी हिन्दू धर्म में व्याप्त कुरीतियों का निष्क्रमण करने के लिए गृह और फिर राज्य त्याग किया. उन्होंने सीधा आम जनता से सम्पर्क किया, जो कि वे राजकुमार होते हुए नहीं कर सकते थे. उन्होंने जनता की भाषा को ही सम्वाद के लिए प्रयुक्त किया. मूर्ति पूजा और बलि प्रथा जैसी कुरीतियों का और समाज में व्याप्त कर्मकाण्डों का घोर विरोध किया. उनका यह मत जनता को अपना महसूस हुआ. फलतः भारत व भारत के बाहर लोगों द्वारा माना गया. लेकिन जैसा कि हरिवंशराय बच्चन ने 'बुद्ध और नाचघर' में लिखा है—"तुमने किया मूर्ति पूजा का विरोध, दुनिया ने दिया तुम्हीं को पूज". जनता ने भोलेपन में जो बुद्ध की मूर्तियां बना कर पूजा की, वह संस्कारगत कार्य था और बुद्ध ने जो परिवर्तन के लिए किया, वह धर्म की बात थी.

भगवान महावीर ने भी हिन्दू धर्म में व्याप्त कुरीतियों से समाज का उद्धार करने के लिए जो रास्ता दिखाया, उस पर जैन धर्म वाले आज भी चल रहे हैं, लेकिन जहाँ तक जैन समाज का सवाल है, अपरिग्रह के सवाल पर अधिकांश खरे शायद न भी उतरें, यह दीगर बात है, लेकिन मूर्तिपूजा का विरोध करने वाले भगवान महावीर की पूजा वैसे ही भव्य मन्दिरों में की जाने लगी है, जैसी कभी और कहीं-कहीं पर

अब भी हिन्दू मन्दिरों में होती है. जैन समाज के अपरिग्रह के प्रति श्रद्धा भाव देखकर तो स्वयम् महावीर भी पुनः अवतरित होकर रूढ़ियों का नाश करने की सोचें तो कोई आश्चर्य की बात नहीं.

इस प्रकार से कहें तो धर्म की बात तो यह है कि धर्म की सुविधानुसार व्याख्या से ही महान आत्माओं द्वारा परिष्कृत किया हुआ समाज आज पुनः विषमय हो गया है. आज पुनः इस मानव समाज को एक बड़े परिवर्तन के दौर से गुजरने की आवश्यकता है. इसके लिये जरूरत है कि धर्म के मूल स्वरूप को समझा जाय. सच्चे दिल से उसकी पुनर्प्रतिष्ठा की महती जरूरत को समझा जाय. धर्म के बारे में बताते हुए डा. राधाकृष्णन् कहते हैं कि—धर्म आन्तरिक रूपान्तरण है, आध्यात्मिक परिवर्तन है. उसका यह रूप इतिहास के प्रारम्भ से ही मिलता आया है, यही उसका स्वरूप है. इतिहास तो यह बताता है कि जब-जब परिवर्तन के लिए किसी ने चेष्टा की, उसकी कोशिश को धर्म के खिलाफ माना गया. बात लेकिन इससे बिलकुल उलट है. ईसा ने, सुकरात ने, रूसो ने या अन्य किसी महापुरुष का विरोध धर्म से नहीं, उसके तथाकथित ठेकेदारों से था, जिन्होंने स्वार्थवश अन्ध विश्वासों और रूढ़ियों को ही धर्म प्रचारित कर रखा था. महान पुरुषों ने उनका ही विरोध किया और धर्म की पुनर्प्रतिष्ठा की. महात्माजी का छुआछूत विरोधी अभियान हिन्दू धर्म की ऐसी ही पुनर्प्रतिष्ठा का प्रयास था. वस्तुतः कर्मकाण्ड और रूढियों को धर्म मानने से ही लोगों के विदेश जाकर पढ़ने तक के कार्य अधार्मिक कहे जाने लगे थे. ऐसे कृत्यों और ऐसे धार्मिक कानूनों से ही धर्म का मूल स्वरूप विकृत होता चला गया.

इस धर्म को हम आज भी आन्तरिक परिवर्तन की वस्तु न समझ, बाह्य आडम्बर और ऊपरी चकाचौंध की वस्तु समझ बैठे हैं. जिस जगह रोज रात को देर रात तक जोर-शोर से भजन किये जाएँ, माइक से शब्दकीर्तन, अजानें और नमाजें पढ़ी जायें, रात-रात भर भाषण-प्रवचन होते रहें, वहीं प्रतिष्ठान प्रतिष्ठित और बड़ा है, ऐसी मान्यताएँ इस युग में प्रचलित हैं. बाहर बोर्ड लगाकर धमार्थ के नाम पर धर्मशालाओं का व्यापार इस युग की धर्म की बात है. मन्दिर के बाहर दुकान लगा कर घर की मिठाई को मन्दिर के प्रसाद के रूप में बेचना भी धर्म की बात ही है. इनसे यह भी ध्वनि निकलती है कि धर्म भी विज्ञापन का मोहताज है. लेकिन धर्म की बात यह है कि ऐसा है नहीं. धर्म की बात तो यह है कि जितना ज्यादा शोर मचाकर, ढोल पीट-पीट कर भगवान को सुनाने की कोशिश की जाती है, भगवान उतना ही उसे नहीं सुन पाता; क्योंकि हर धर्म यह मानता है कि प्रभु तो व्यक्ति के अन्तःकरण में विराजमान रहते हैं. महात्मा ईसा ने कहा था कि 'स्वर्ग का राज्य तुम्हारे भीतर है. सिखों के गुरु तेग बहादुर ने कहा था कि—'घट के भीतर बसत निरंजनु, ताको मरम न जाना'. लेकिन जब इन महापुरुषों की बातों को बिसरा कर रूढियों और अन्ध-विश्वासों को ही धर्म की मान्यता मिल जाती है तो कार्ल मार्क्स जैसे विद्वान विचारक धर्म को सर्वहारा की अफीम बताकर उसकी उपयोगिता पर ही प्रश्न चिन्ह लगा देते हैं. लेकिन यथार्थ में उन्होंने भी धर्म के नाम पर ओढ़ी हुई इन रामनामी

चादरों को ही निरर्थक बताया था. कमोबेश ऐसा ही कार्य विश्व के महापुरुष करते रहते हैं चाहे वे मिश्र व बेबीलोन के पैगम्बर हों चाहे वैदिक मन्त्रों के ऋचाकार; चीन के कन्फ्यूशियस हो, या माओत्से तुंग, पश्चिम के ईसा हो, या पूर्व के गौतम, महावीर, गांधी. धर्म की बात तो यह है कि सबने अपने-अपने समय पर समाज में फैली अव्यवस्थाओं, कुरीतियों और अनाचारों पर चोट की. समाज को दिशा दी, गिरते हुए मूल्यों के विरुद्ध एक सम्पूर्ण आन्दोलन ही धर्म का परिष्कार करता है और ऐसा ही सभी धर्म प्रवर्तकों ने किया था. आज भी यदि परिवर्तन की चाहना है तो सबसे पहले धर्म के इस सत्य को अंगीकार करना होगा.

वैसे धर्म की बात तो यह भी है कि धर्म ही मनुष्य को पालता है. प्रसिद्ध अर्थशास्त्री बर्टन के अनुसार प्रत्येक धर्म उतना ही सत्य है, जितने कि दूसरे धर्म. महादेवी वर्मा के अनुसार कोई भी ऐसा अस्त्र अन्धकार के पास नहीं है जो दीपक की लौ को मार सके, और सारे ही धर्म ज्ञान के दीपक हैं. महात्मा डाइस्थनीज के शब्दों में—"यदि हमें महान पूर्व पुरुषों की भांति कर्म करने का अवसर मिले, तो भी हमें कम से कम अपने विचार उनकी भांति रखने चाहिये. उनकी आत्मा के महत्व का अनुकरण करना चाहिये". वास्तविक परिवर्तन का यही धार्मिक उपाय है.

दल, दिल और दम्भ

दलबदल को 'दलबदल' ही नहीं वरंच दल-ब-दल भी कह सकते हैं. यों भी दलबदल कहना तो एक प्रकार से अवैधानिक शब्द उच्चारित करना हो जाता है. इस एक शब्द से ही यह ध्वनि निकलती है जैसे कोई दल बदलने की बात कह रहा हो. इस शब्द का उच्चारण ही जैसे दल बदलने को प्रोत्साहन देना है. इसके विपरीत दल-ब-दल शब्द में एक निरन्तरता और क्रमशः विकास की गति का आभास होता है. जैसे कोई कह रहा हो कि 'कदम ब कदम आगे बढ़ो'. उसी प्रकार से दल-ब-दल भी आगे बढ़ने की क्रिया का आभास देता है.

दल-ब-दल में व्यक्ति के साथ उसका दल, और दल के साथ स्वयम् नेता के आगे बढ़ने का भाव है. इसमें निरन्तरता का बोध भी है. राष्ट्रीय कांग्रेस पिछले कुछ वर्षों में कांग्रेस अ से ई और स से श तक जा पहुँची थी. गत वर्षों में भी यदि अनुकूल पर्यावरण रहा होता तो यह विकास प्रक्रिया बहुत सम्भव है 'ज्ञ' तक पहुँच ही जाती. इसके बावजूद यह विडम्बना ही कही जायगी कि दल बदल के लिए हमेशा प्रतिपक्ष को ही श्रेय दिया जाता रहा है. एक सयानी राय यह भी हो सकती है कि राजनीति के दलदल में से दलबदल के द्वारा दल-ब-दल आगे बढ़ने वालों को पुरस्कृत करना चाहिये. और लोग हैं कि हो भी लेते हैं पुरस्कृत. इस देश की अधिसंख्य आबादी किसानों की है, जिन्हें नमी और पानी से बेहद प्यार होता है. देखा जाय तो दलदल में पानी और नमी दोनों होते हैं, अतः देश के अधिसंख्य वर्ग को दलदल से प्यार यदि न भी रहे, कम से कम घृणा तो नहीं हो सकती; ऐसा मेरा विश्वास है.

राजनीति ने लोगों को विशेष कर नेताओं को दलदल का सूअर बना दिया है. अब तो ऐसा लगता है कि वे इस दलदल के बिना रह ही नहीं सकते. इस दलदल में रह-कर भी अपनी निरन्तरता बनाये रखने की कला को ही दल-ब-दल कहते होंगे. आज राजनीति जिस जगह पर है और जैसी अवस्था में है, उसमें ऐसा लगता है कि व्यक्ति को दल-ब-दल आगे बढ़ने के अनेक गुर याद हो गये हैं. और, इसी से आतं-कित होकर सभी दल एक स्वर से दल-बदल की भर्त्सना करते हैं, इसके निवारणार्थ ऐसे-ऐसे कानून बनाते हैं जिसमें मौके-बे-मौके के लिए कुछ छिद्र हो. उसके बाद भी अनेक अवसरों पर इन बेचारे राजनीतिज्ञों को स्वयम् अपने हाथों अपने दिल पर बड़े-बड़े और भारी पत्थर रखने पड़ते होंगे. बेचारे करें भी तो क्या. दर्दे दिल किसको सुनायें ! जिसको भी अपनी दास्तान सुनाने जाएँ वो बस यही कह कर पल्ला झाड़ दे कि राजनीति में दिल का काम ही क्या ! यानी कि इस दलदल में दिल का क्या दखल !

दरअसल में दिल का दखल न होने का सीधा-सीधा मतलब यही होता है कि यहाँ दिमाग का दखल हो गया है. बीच समन्दर में अपने मित्र मगर की पीठ पर बैठे

बन्दर ने जब अपना दिल पेड़ पर ही टंगे होने की बात कही थी, तब वास्तव में वह अपने दिमाग का दखल ले रहा था, दिल के मामले में भी, वरना दोस्ती के मामलों में तो दिल ही सब कुछ होता है. और, सिर्फ दिल ही दिल के भरोसे तो बेचारा बन्दर अपना बोलो राम करवा ही लेता. इस कथा से यह भी प्रकट होता है कि मित्रों के व्यवहार में भी सिर्फ दिल के भरोसे नहीं रहना चाहिये, बाज वक्त पर अपना दिमाग भी काम में लेना चाहिये. मित्रों के सहारे राजनीति करने वाले हमारे आज के राजनीतिज्ञों को इस कथा का हनुमान चालीसा की तरह पाठ करते रहना चाहिये. दलों की राजनीति में आज भी दिल का दखल कम नहीं है, गो कि सारे इस महा-सत्य से परिचित हैं कि दिल के वशीभूत रह कर ही धृतराष्ट्र ने महाभारत का आधार तैयार किया था. चाहे अन्जाने में ही सही, इतिहास में तो महाभारत के कारणों में प्रमुख दिल का दखल ही रहा. नेत्रहीन धृतराष्ट्र भले ही अपने अन्धेपन का रोना रोकर अपनी जान बचा गया, लेकिन आज जो आंखों वाले धृतराष्ट्र महाभारत की भूमिका को अंजाम दे रहे हैं, इतिहास के आईने में जड़े जाने पर अपने चेहरे की कलुषितता से बचाने के लिए कहाँ से ओट तलाशेंगे, इस बात की चिन्ता शायद उन्हें अभी नहीं है. लेकिन आसानी से समझा जा सकता है कि तब भी वे इस बेचारे नन्हे-से दिल पर ही सारी तोहमत मढ़ने में कोई कसर नहीं छोड़ेंगे.

दिल के बारे में एक बात प्रसंगवश और कही जा सकती है—अधिक बुद्धिमान लोग पार्टी में रह कर भी बयान दे देते हैं कि मैं दिल से उनको नेता नहीं मानता तो उन्हें पूछिये कि क्या दिल के नेता और दिमाग के नेता अलग-अलग होते हैं और क्या यह दोहरी निष्ठा का मामला नहीं बनता, जिसकी तर्ज पर या कि जिसके तर्क पर ही; पूर्व में जनता पार्टी ने 'भारतीय जनता पार्टी' को अलग होने पर मजबूर किया था. आप दिल से नेता को नेता नहीं मानते तो उन्हें पार्टी का नेता मानने का ढोंग क्यों कर रहे हैं ! क्या किसी निष्ठावान का पार्टी का नेता और उसका अपना व्यक्तिशः नेता अलग-अलग हो सकते हैं ! यदि ऐसा है तो आप या तो पार्टी के प्रति दोगला-पन रखे हुए हैं या कि अपने ही आदर्शों के प्रति. आप पार्टी के नेता के प्रति निष्ठा नहीं रख पायेंगे तो पार्टी के प्रति कैसे निष्ठावान रह पाएँगे नेताजी ! लोग तो समझ ही जाते हैं कि यहाँ दिल और दिमाग दोनों असमंजस में फंसे हैं. और, भ्रम का जाल भी मकड़ी के जाल से कम नहीं होता, फिर दिल का उलझाव ? यह तो व्यक्ति को खुद को ही फंसाता है, बेदिल से ही सही.

नेता होने से ही कोई महान नहीं हो जाता, विश्व के सबसे बड़े राजनीतिक-महाकाव्य में देखें तो न तो अर्जुन ही राजा थे, न ही कृष्ण. अर्जुन तो युधिष्ठिर के आज्ञाकारी अनुज थे और कृष्ण द्वारकाधीश होते हुए भी थे अर्जुन के सारथी ही. लेकिन इतने भर से महाभारत में इनकी भूमिका कम तो नहीं रही. दरअसल राजनीति का खेल दिमाग का खेल है. इसमें दिल का दखल देर-सवेर दलदल में ही धंसाता है. सिर्फ और सिर्फ दिल की बातें मानने से कहीं न कहीं धृतराष्ट्र बन जाने का खतरा भी

रहता है. इतिहास के अध्यायों में इस प्रकार से अपना नाम लिखवाना शायद ही कोई पसन्द करे.

दल, दिल और दम्भ तीनों ही अमूर्त और अन्धेरे में वार करने वाले शत्रु हैं. व्यक्ति को और खास करके राजनीति में दण्ड पेलने वाले व्यक्ति को इनकी गहरी पहचान होनी आवश्यक है. इनसे प्रारम्भ होने वाली सारी पगडण्डियाँ पराभव की ओर ही ले जाती हैं. इन शत्रुओं में से कोई भी एक व्यक्ति का चेहरा बदरंग करने के लिए काफी है. तब तीनों का एक जगह होना कोई शुभ संकेत नहीं देता. जहाँ ये तीनों हों, वहाँ शुभ आशा मरुस्थल में नमी की सोच से अधिक कुछ नहीं हो सकती. दम्भ के बारे में तो हमारे साहित्य में और इतिहास में भी बहुत लिखा जा चुका है इसलिये जरा सी आंख खुलते ही पूरी आंख खुल जानी चाहिये. लेकिन आंखें खोलने में भी तो दम्भ आड़े आ जाता है. खुदा खैर करे. भगवान् भास्कर रक्षा करे.

थोथे दम्भ से परिपूरित लोग, चाहे वे नेता ही क्यों न हों, रिक्त बादलों की तरह गगनाचारी होते हैं. उनसे बरखा की आस और धरती की प्यास बुझाने की कामना ही व्यर्थ है. दिवास्वप्न देखने वाले ऐसे तथाकथित नेता अपने दिल के हाथों मजबूर होते हैं और यथार्थ महाभारत की कथा की तरह कठोर और सत्य की तरह पीड़ा दायक. राजनीति तो वैसे भी सम्वेदना और मानवीय मूल्यों में छत्तीस का आंकड़ा बना रहता है, तब राजनीति भी करना और दिल की बातें भी करना लगभग वैसा ही है कि आप एक ही वक्त में रेल में और हवाई जहाज दोनों में बैठ कर यात्रा करें.

दल, दिल और दम्भ के बाद थोड़ी-सी बात दाढ़ी की अप्रासंगिक नहीं होगी. दाढ़ी दरअसल व्यक्तित्व के निखार का कार्य करती है. दाढ़ी से टैगोर का गम्भीर व्यक्तित्व भव्यता प्राप्त करता था. दुबले लोग अपना चेहरा भरा-भरा दिखाने के लिए भी दाढ़ी रखते हैं तो काका हाथरसी कविता-बेल को सहारा देने के लिए ही दाढ़ी रखते हैं. उनकी दाढ़ी ने अनेक कविताओं की चाशनी से स्वयम् को पगाया है और एक मायने में काकी का बचाव भी किया है. लेकिन अनेक भ्रमित लोग दाढ़ी इसलिये रखते हैं कि इससे वीतरागी होने का भ्रम रहता है. दाढ़ी की ओट में अनेक लोग अपने कलाकार होने का विज्ञापन करते हैं तो अनेक अपने को भगवान और सन्त मनवाने को यत्नशील रहते हैं. यकीनन तब दाढ़ी से उनके व्यक्तित्व में विशिष्टता आती है इस प्रकार की सोच यानी की उक्त प्रकार का दाढ़ी-चिन्तन कहीं न कहीं आदमी को दल, दिल और दम्भ के बाद पराभव की ओर ही ढकेलता है.

दाढ़ी ही व्यक्ति को चिन्तनशील नहीं बनाती, वह व्यक्ति के चिन्तक होने का भ्रम ही पैदा कर सकती है. क्यों कि चिन्तन के लिए बाह्य और आन्तरिक परिवेश की सही समझ आवश्यक है. जो सही समय पर सही सोचने से वंचित रह जाता है, वक्त निकल जाने के बाद उसके पास दाढ़ी खुजाने और दाढ़ी के बाल नोंचने के अतिरिक्त और कोई विकल्प शेष नहीं रहता. इस प्रकार से दल, दिल और दम्भ के बाद दाढ़ी का क्रम आता है, लेकिन तब तक व्यक्ति में दाढ़ी के रंग समझने की समझ पर आ जाती है. वैसे भी इस क्लीनशेव जमाने में कौन दाढ़ी को पूछता है ! अनेक दढ़ियल तो मेरे शहर में भी यूँ ही डोलते रहते हैं. फिर भी किसी को अपने दल, दिल और दाढ़ी का दम्भ है तो पलता रहे वह अपने भ्रम में. आखिर सवा समझदारों के लिए कोई अलग दुनिया तो है नहीं.

युवा लव-कुश ही थामेंगे, रामजी का घोड़ा

घोड़ा खुल गया है. खुल नहीं गया, बल्कि खोला गया है. अश्वमेध की मुद्रा में खोला गया है—यह राम नाम का घोड़ा. राम के नाम से तो इस देश में पत्थर भी तर जाते हैं तो घोड़ा तो दौड़ना ही था. इसी घोड़े की पूंछ पकड़ कर अनेक लोग वैतरणी पार कर चुके हैं और अनेक प्रयासरत हैं. घोड़ा रामजी की जनम-भौम अयोध्या से दौड़ना शुरू हुआ था और पूरे उत्तर भारत की परिक्रमा करने के बाद आज भी जहाँ मन चाहे अपने खुरों की ठाप ठकठकाता है. ऊँची गर्दन और उठे हुए खुर लिये चेतक के समान बलशाही यह घोड़ा मेरे देश की सांस्कृतिक धारा को, हमारी सामाजिक एकता की विरासत को, नानक, कबीर, तुलसी, खुसरो और अन्यानेक सूफी कवियों और विचारकों के प्रयत्नों को और सबसे ऊपर एक गम्भीर चुनौती है— महात्मा गांधी के बलिदान को.

हमारा समाज लगता है कि इस चुनौती को समझने और इसके समाधान के लिए मानसिक रूप से तैयार नहीं है. यह तो समझा नहीं जा सकता कि इस देश का जागरूक जन, इस घोड़े के पीछे की मानसिकता से अन्जान है. लोगों को यह भी भलीभांति विदित है कि इसके पीछे कौन है— वशिष्ठ या कि विश्वामित्र ? या कि दोनों इस कुत्सित मन्तव्य में एक हो गये हैं ! सन्तों के चिमटे और महन्तों के कमण्डल जो राग गा रहे हैं, उसे सुनने के लिए किसी विशेष रेडियो में विशेष फ्रीक्वेंसी सेट करने की आवश्यकता नहीं है, न ही भीमसेन जोशी से, रविशंकर से या शिव-हरी चौरसिया से विशेष राग-रागनियाँ सीखने की जरूरत है. बस, अपने दैनिक कार्यकलापों से यानी कि रोटी, कपड़ा और मकान जैसी प्राथमिक जरूरतों से जरा-सा हट के देखने के किंचित प्रयास से ही दृश्य स्पष्ट दीखने लगता है. इस घोड़े की अश्वमेधी मुद्रा ने कितने घर उजाड़े हैं, कितने बच्चों को अनाथ एवम् असहाय कर दिया है, कितनी औरतों को बिलमाया है इस अश्वमेधी मुद्रा ने, यह सारा भयावह दृश्य हमारे अनेक भाई देख-सुन और भोग चुके हैं. दुख तो इस बात का है कि यह सारा दुखद वाकया देख कर भी असंपृक्त की तरह हम रोजमर्रा के कार्यों में व्यस्त हो जाते हैं, मानो किसी सिनेमा को देखकर घर लौट रहे हों, बतियाते हुए या किसी रेस्ट्रा में चाय के कप पर हथेली ढांपे हुए सुकराती मुद्रा में बहस चलाये जाते हैं. यह हमारी सम्वेदना पर छाया हुआ कोहरे का अल्प कालिक प्रभाव है या कि हमारा समाज 'सीजोफ्रेनिया' से ग्रसित हो रहा है.

'इमर्सन' के शब्दों में कहें कि "मायावी समाज में आधी गलतियां तो इसलिये हो जाती हैं कि जहाँ हमें विचार से काम लेना चाहिये, वहाँ हम भावना से काम लेते हैं". यह नहीं है कि समाज के अधिकांश लोग राम भूमि के लिए इस प्रकार की तातारी मुद्रा के पक्षधर हैं. यों तो स्वयम् तुलसी ने कहा है और वह भी रामचरितमानस में

ही कि 'सियाराम मय सब जग जानि' तब राम भूमि के लिए महाभारती मुद्रा तुलसी के दृष्टिकोण से भी औचित्यपूर्ण नहीं कही जा सकती. वैसे भी इस देश की संस्कृति हमें 'सबै भूमि गोपाल की' का सोच सिखाती है, तब इस मन्त्र को जपने वाले हम अगर लगातार ऐसे ही मुद्दों को लेकर लाखों लोगों के जीवन को नष्ट करने का कारण बनते हैं तो क्या हम अपनी ही नजर से नहीं गिर रहे. इसके उपरान्त भी यदि इसे मुद्दा माना ही जाय, तब भी क्या यह समस्या ही देश की समस्त समस्याओं से प्रमुख और बहुत ही अधिक महत्वपूर्ण होकर रह गई है ! इतनी महत्वपूर्ण कि सदियों का भाईचारा एक ही झटके में उड़न छू होकर रह जाये ! तब तो यही कहा जा सकता है कि—

इस तरक्की को क्या कहें, क्या बतायें
पहले पड़ते थे अक्ल पर पत्थर,
अब पड़ती हैं राम-शिलाएँ.

निश्चित ही यह आक्रामक मुद्रा धर्म के नाम पर है, लेकिन धर्म की रक्षा के लिए नहीं है. यह मुद्रा तो मात्र धर्म की रूढ़ियों की रक्षा के लिऐ है और रूढ़ियाँ चूंकि धर्म नहीं होतीं. इसलिये इसमें धर्म का दखल ही नहीं होना चाहिये. यह बात दोनों पक्षों के लिए है क्योंकि, कोई भी धर्म दूसरे धर्म से लड़ाई का पाठ नहीं पढ़ाता. इस्लाम भी नहीं. इस्लाम तो विश्व में प्रेम और भाईचारे की भावना के लिए उतना ही विख्यात है, जितना कि हिन्दू धर्म. प्रेम और भाईचारे की भावना वाले दोनों धर्मों के अनुयायी यदि टकराव पर हैं तो यह बात निश्चित है कि इस टकराव के मूल में धर्म की रक्षा की बात कतई नहीं है. यह लड़ाई रूढ़िग्रस्त लोगों की निमन्त्रित है. अपने प्रभाव को बढ़ाने का प्रयास भर है ये लड़ाई, जिसे बिना सोचे समझे काफी व्यापकता मिल गई और यही कारण है कि ऐसी शक्तियों के हौसले काफी बढ़ गये प्रतीत होते हैं. ऐसे में युवा लोगों की उदासीनता और बुजुर्गों की नपुंसकता को देख कर दोनों ओर कट्टरपंथी निश्चित ही उसी भांति खुश हो रहे हैं जैसे कि जंगल में ढोर के मरने पर अकर्मण्य सियार खुश होता है.

बाल्मीकि उस समय के कवि विचारक थे जब राम के द्वारा सीता अपमानित और त्याज्य की गई थी. उस महाकवि और महान विचारक ने न केवल इस अन्याय के खिलाफ काव्य रचा बल्कि अन्याय के प्रतिकार के लिए लव-कुश को तैयार भी किया. इस प्रकार उन्होंने युवाओं की एक चुनौती खड़ी कर दी, महान् राजा राम के सामने. आज भी देश का समस्त बुद्धिजीवी-वर्ग इस रूढि-ग्रस्त अवधारणा के विरुद्ध एक मत से सक्रिय है. साम्प्रदायिक सद्भाव के अनेकानेक प्रयास विद्वान और विचारक लोग लगातार कर रहे हैं, लेकिन तात्कालिक युग की भाँति ही इन्हें भी न तो राजनीतिक समर्थन मिल पा रहा है, न धार्मिक सन्तों और महन्तों का, न ही उधर के मुल्ला मौलवियों का. यही कारण है कि समस्त प्रयासों के बावजूद लपटें उठती ही रहती हैं.

लव-कुश ने तो आगे बढ़कर थाम ली थी घोड़े की रास. खट्टे कर दिये थे राम की

सेना के दाँत. ग्राज भी यदि युवा लव-कुशों के होते ये घोड़े निर्द्वन्द विचरते हैं तो महज इसलिये कि इनका किसी ने ग्राह्वान ही नहीं किया. हनुमान को भी ग्रपनी ताकत का एहसास कराने के लिए एक जाम्बुवन्त होना ग्रावश्यक था. मेरे देश के नवयुवकों ! कल तुम सोचोगे कि हमने यह विपत्ति देखी थी हमारे सामने ही यह संकट ग्राया ग्रौर परवान चढा. इसका सामना करने की क्षमता ग्रौर शक्ति हमारे भीतर मौजूद थी, लेकिन उस मौके पर हम ग्रागे नहीं बढ़े. क्यों नहीं बढ़े ! ग्रपनी इसी नपुंसकता का हिसाब ग्रापसे लिखा जाने वाला इतिहास मांगेगा. इसके लिए ग्रापको भविष्य में शर्मिन्दा होना पड़ सकता है. ग्राज ग्राप नौजवान हैं, ग्रापकी भुजाग्रों में ऊर्जा है ग्रौर मन में संकल्प. ग्राप ही ग्राज के लव-कुश हैं. ग्रागे बढ़िये ग्रौर थाम लीजिये इस राम-भूमि, बाबरी-मस्जिद घोड़े की लगाम. यहीं ग्रापका दायित्व है ग्रौर वर्तमान के प्रति ग्रापकी जिम्मेदारी भी है. ऐसा न हो कि कल इतिहास तुम्हें कहे कि—

राम की ग्रच्छाइयों का,
ये क्या सिला दिया.
उसने तो बनाया था/शिला को मानवी
तुमने उसे ही शिला बना दिया.

युवा....युवा....ऐ युवा....

युवा .. युवा.... ऐ युवा....
तेरे सिवा....कोई नहीं....और दवा....
तू सबको बचा ले... हम सबको बचा....
देश को बचा ले....युवा....युवा....

उपरोक्त पैरोड़ी से फौरी तरीके से ऐसा ही लगता है जैसे पैरोड़ीकार ने युवाओं का आह्वान करते हुए उनसे देश को और अवाम को बचाने की मार्मिक-सामयिक अपील की है. गोया कि आज का युवा जागरूक हो, अपने कर्तव्यों और जिम्मेदारियों के प्रति सजग व सतर्क हो, उसमें कुछ कर गुजरने की ललक और कसक हो, उत्साह का अतिरेक हो और उसके सामने सिर्फ लक्ष्य भर पेश करना शेष हो, जिसे पैरोड़ीकार ने प्लेट में सजा कर सामने रख दिया है. कुछ ऐसा ही लगता है जैसे किसी लोककथा का नायक राजकुमार अपनी माँ की आंखों की रोशनी लौटाने की गरज, घोड़े पर चढ़ा प्रस्थान को उद्यत हो और पैरोड़ीकार उसे गुलेबकावली के फूल तक पहुँचने का रास्ता बता रहा हो जिससे युवा राजकुमार अपनी माँ के दर्द को दूर कर सके.

लेकिन वास्तव में यह सब खयाली पुलाव मात्र है, क्योंकि हकीकत में न तो आज का युवा, राजकुमार की तरह अपनी माँ के दुख से दुखी है, न ही वह माँ की आंखों की रोशनी पुनः लाने के लिए फिक्रमन्द है, न ही वह गुलेबकावली के फूल लाने जैसे कठिन काम करने के लिए उतना हौसलामन्द ही है. वह पैरोड़ीकार की अपेक्षाओं के अनुरूप न सजग है, न सतर्क. वस्तुतः तो यह पैरोड़ी, स्वयम् युवाओं को जगाने के सबब ही कारआमद है, वह भी तब जब वास्तव में कारआमद हो, यानी कि युवा ऐसी किसी बात पर कान देने तक के लिए तैयार भी हो.

अनेक युवाओं को तो 'युवाओं' को जगाने वाली बात ही दंश पहुँचा सकती है. उनकी नजर में यह बुद्धिजीवियों की सिवाय धृष्टता के अतिरिक्त कुछ नहीं है. युवाओं की इस बात को यदि मान भी लें तो युवाओं के जागते होने के कुछ प्रमाण तो नजर आने ही चाहिये. अब बिना प्रमाण के तो इस इक्कीसवीं सदी में कोई बात कैसे मान लें. माफ कीजिये, इस युग में तो राशन से लेकर भाषण-चाटन तक के लिए प्रमाणीकरण की जरूरत पड़ती है. तब राष्ट्र-निर्माण जैसे महत्वपूर्ण दायित्व को हाथ में लेने से पहले युवाओं को भी अपने जागते होने का प्रमाण देना पड़े तो यह कोई अधिक धृष्टता की बात नहीं है. जब कि उधर बेचारे कालूराम को ता-उमर नौकरी करने के बावजूद अपने जीवित होने का प्रमाण-पत्र पेश करना पड़ता है. फिर पैरोड़ीकार ने भी यह तो स्पष्ट कर ही दिया है कि युवाओं के अतिरिक्त और कोई विकल्प नहीं है, जो ऐसे हालात को बदलने की कूवत रखता हो.

विकास की गति जितनी तीव्रतर होती है, पीढ़ियों के बीच समझ के दायरे उतने ही

चौड़े होते जाते हैं. पुराने लोग जहाँ परम्पराओं से बन्धे रहना पसन्द करते हैं, वहीं युवा अपनी अलग पहचान स्थापित करना चाहते हैं. जब इसमें परिवेश और परम्पराओं का वांछित सहयोग नहीं मिलता, तो टकराव की स्थिति बनती है. नये और पुराने के इस संघर्ष का परिणाम अधिकतर नयों के पक्ष में ही रहता है, लेकिन हर बार ऐसा नहीं होता. अनेक बार स्वार्थी घटक परम्पराओं और कर्तव्यों के शस्त्रों से लैस-संगठित और बलवान तरीके से नई धाराओं को न सिर्फ रोके रखती है, बल्कि कई बार धारा को पुराने लकीर पर ही चलाते रहने में कामयाब रहती है,—ऐसी शक्तियाँ, अनुशासन और आदर्शों के फन्दे युवाओं के गले में डाल दिये जाते हैं. पुराने आख्यान और मिथकों के सहारे उन्हें भ्रमित कर दिया जाता है. सामाजिक मान्यताओं और सांस्कृनिक धरोहर की रक्षा की दीवार खड़ी कर दी जाती है—युवा कदमों के आगे. इन भ्रामक नारों के नाम पर युवाओं को प्राप्त समर्थन घटाया जाता है, और उन्हें समाज से कुटिलतापूर्वक अलग-थलग कर दिया जाता है. इस प्रकार के सामाजिक विघटन से जब समाज पिछड़ने लगता है तो उसका दोष भी युवाओं पर ही मढ़ दिया जाता है.

जब सोचने और चिन्तन करने के कार्य युवाओं के क्षेत्र से बाहर की वस्तु बनाये जाते हैं, और युवाओं का अर्थ मात्र भुज-बल से ही स्वीकार किया जाता है, तो एक प्रकार की मानसिक हीनता-सी भर जाती है—पूरे युवा वर्ग में. अनुशासन, आदर्श सामाजिक मर्यादाएँ और आदर जैसे अनेक बन्धनों से युवाओं को वैसे ही जकड़ कर रखा जाता है, जैसे मध्ययुगीन नारी को बेड़ियों में जकड़ कर रखा जाता था. कुछ ऊपरी ऊपरी तौर से देखें तो युवाओं की और दलित नारियों की समस्याएँ सापेक्ष हैं और उनका समाधान भी सापेक्ष ही है, इसके लिए युवा-पुरुषों और युवा-महिलाओं को संगठित रूप से आगे बढ़ने का संकल्प लेना चाहिये.

अक्सर माता-पिता अपने बच्चों को काम से मुक्त रख देते हैं. उनकी दृष्टि में उनका काम महज पढ़ना और फिर कमाना भर है. कमाने के नाम पर फिर वे नौकरी करने के अतिरिक्त किसी भी कठिन कार्य के योग्य नहीं रहते. समाज की बेहतरी के लिए युवा दृष्टिकोण का महत्व संभवत: उनकी नजर में कुछ है भी नहीं. इस तरह जब किसी देश का शक्तिस्रोत यानी कि युवा वर्ग ही यदि विचारहीनता की स्थिति को प्राप्त हो जाता है तो उस देश की वा उस समाज की क्या गति हो सकती है ! इस तरह अपनी पहचान खो चुका युवा वर्ग सिर्फ कॉफी हाउस में बैठकर राजनीति पर नपुंसक बहस कर सकता है. टी. वी के एपिसोड देख सकता है, मानसिक संतुष्टि के लिए अमिताभ की एंग्री-यंगमैन की फिल्में देख सकता है, दिवा-स्वप्न देख सकता है, मुंगेरीलाल हो सकता है और डिस्को के संगीत पर इधर उधर कमर को कुछ झटके दे सकता है. ऐसी दिशाहीनता सम्पूर्ण युवा वर्ग को मूढ और लाचार बना देती है और कभी यदि उसकी गैरत जोर मारती है, तो बस में या कि मेले में किसी अकेली बालिका को देखकर सामूहिक रूप से उसे छेड़ने की और फिकरे कसने की मर्दानगी दिखा जाती है, यह आज की युवा-संस्कृति.

ऐसी युवा पीढ़ी को जगाने का नन्हा सा प्रयास है यह पैरोड़ी. पैरोड़ीकार यह भी जानता है कि हीन भावना ही, युवाओं को नशे की लत की ओर धकेलने का कारण होती है. यह घोर निराशा ही आज के युवकों को कुण्ठा-आक्रोश और त्रासदी की अन्तहीन सुरंगों की ओर धकियाती जा रही है. देश की सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक और पारिवारिक जरूरतों से कम से कमतर सरोकर रखना समस्याओं से पलायन की प्रवृत्ति, उन्हें डिस्को जैसे व्यर्थ के मनोरंजनों में मग्न होने का कारण होती है. दवाओं का सेवन करना, अकर्मण्य जीवन जीना, और पलायन की भावना के मूल में इस युवा वर्ग की उदासीनता ही तो है. युवा वर्ग में व्याप्त इस उदासीनता को दूर करना ही आज की प्रथम आवश्यकता है.

युवा शक्ति ड्राई बैटरी की तरह है जिसे समय-समय पर चार्ज किया जाना जरूरी होता है. हनुमान में शक्ति का जैसे भंडार था, किन्तु उन्हें भी उत्साहित करना होता था. सही मायने में यह उन्हें अपनी ताकत का अहसास कराना था. आज के युवा वर्ग को भी अपनी शक्ति का अहसास कराना आवश्यक हो गया है. इसके लिए सबसे पहला और महती कार्य है युवा वर्ग को अपनी पहचान देना, उन्हें आदर्शों के पाठ पढ़ाना, अनुशासन की ओर मोड़ना, सामाजिक उत्थान की ओर उनका ध्यान आकर्षित करना आदि सारी बातें उसके बाद की बात हैं, जो कि हो या न हो. कोई जरूरी नहीं कि युवा वर्ग व्यवस्था के विरोध में खड़ा हो या कि व्यवस्था के पक्ष में. आवश्यक तो बस इतना है कि युवा वर्ग खड़ा हो. आवश्यक यह है कि उनकी उदासीनता टूटे. किसी शायर ने कहा है कि 'पहचान ले अपने को, तो इन्सान खुदा है.' लेकिन बात वही है कि पहले अपने को पहचाने तो सही.

एक रूसी युवा ने जब कहा कि तरुण होना भी कोई मजाक की बात नहीं है, तो उसके पीछे भावना यही होगी कि तरुण होने के बाद समाज आपसे अपेक्षा करता है कि आप जिम्मेदार हों. आप न सिर्फ इस सदी और आगे वाली सदी की सोचें बल्कि सन् 3000 के बारे में भी सोचें. इस जड़ समाज की दुखती रग पर जब युवा खुल्लमखुल्ला प्रहार करते हैं, तो उन्हें आदर्शों और अनुशासन के शिकंजे में कसने की कोशिश न हो, अपितु इस खुल्लमखुल्ला प्रहार करने की प्रवृत्ति को इस मानसिकता को और ऐसे दृष्टिकोण को उत्साहित किया जाना चाहिये क्योंकि होने वाली क्रांति का मूल तत्व यही मानसिकता है. युवकों और युवतियों को स्वतन्त्र और खुले दिमाग से काम करने को और सोचने को प्रेरित करना चाहिये. जो समाज ऐसा करेगा, सिर्फ वही समाज गतिशील और जिन्दा रहता है. इतिहास ने अनेक बार इस तथ्य को दुहराया है कि 'जो कुछ करता है, वही जीवित रहता है.'

महात्मा कन्फ्यूशियस ने एक जगह कहा है "ज्ञान का सार यह है कि ज्ञान रहते उसका प्रयोग हो. प्रकृति और प्रगति किसी के लिए इन्तजार नहीं करते, बल्कि अकर्मण्यों को केले के छिलके की तरह परे फेंकते हुए समय तो अपनी यात्रा जारी रखता है. हम अपने आप को समय के बराबर चला पाते हैं या नहीं, यह हमारे अपने ऊपर है. हर समाज का ऊर्जा-भण्डार उसकी युवा शक्ति ही होता है, यह शक्ति यदि जाग्रत हो

जाय, एक हो जाय तो उस समाज को आगे बढ़ने से भला कौन रोक सकता है ! शेख सादी ने तो यहाँ तक कहा है कि—"यदि चिड़ियाएँ भी एकता कर लें तो शेर की खाल खींच सकती हैं." तब युवा वर्ग की एकता का तो कहना ही क्या !

आज समाज पतन की दिशा में अग्रसर है, ऐसे में युवा वर्ग ही समाज को इस दशा से उबार सकता है, यह इसमें समर्थ भी है. तब भी युवा वर्ग यदि इसे किसी उपदेशक की जिह्वा की जॉगिंग समझ लेंगे तो यह उनकी भूल होगी और मेरे साथ अन्याय. बैंजामिन फ्रेंकलिन ने ऐसी ही स्थिति के बारे में कहा है कि "चींटी से अच्छा उपदेशक कोई नहीं, क्योंकि वह काम करती है और खामोश रहती है." यह आदर्श स्थिति ही युवा वर्ग के लिए और हमारे सम्पूर्ण समाज के लिए श्रेयस्कर है.

विवेकानन्द प्रासंगिक

वर्तमान से विवेकानन्द का अन्तराल मापना समय के बस की बात नहीं है. युग-बोध के परिप्रेक्ष्य में हम आज भी वहीं हैं, जहाँ विवेकानन्द के होने के पूर्व थे. इस देश को विवेकानन्दजी की आज भी उतनी ही आवश्यकता है जितनी कि तब थी. उनकी प्रासंगिकता की बात भी जटिल है. आज के युवा नेताओं की भीड़ में पुराने और भगवा वेशधारी की विद्वत्ता का बखान करना, फिर चाहे वह विवेकानन्द ही क्यों न हों; स्वयम् के अप्रासंगिक हो जाने का बायस हो सकता है. सामयिकता का तकाजा तो यह है कि आप अपने नेता का गुणगान करते रहें, इससे आपका वर्तमान और भविष्य दोनों तर सकते हैं. आप अपनी छवि बनाने में जुट जाओ तो उससे हासिल होने वाली समृद्धि की छांव में आपके बूढ़े माता-पिता सुख की नींद सोयेंगे और आपको ढेरों आशीर्वाद देंगे. आपके बच्चे आपके आज्ञाकारी बने रहेंगे. इसके बनिस्पत यदि आपने पूर्वजों की गौरव गाथाएँ गाने में और इसके अनुरूप जीवन गुजारने की यानी कि जीवन को तबाह करने और व्यर्थ ही हश्र को प्राप्त होते जाने का कार्य सरअंजाम दिया तो आपके लायक बच्चे ही कहेंगे कि बुढ़ऊ सठिया गया है.

सठियाए जाने का आरोप अंगीकार करते हुए भी कभी-कभी सनक की तरह अनेक काम हो जाते हैं. प्रसंगवश ही सही, विवेकानन्द के वर्तमान से तादात्म्य की गहराई में जाने को यह यायावर कृत संकल्प है. चूंकि भारत का इतिहास और युवाओं का इतिहास, दोनों ही विवेकानन्द के बिना अधूरे हैं. विदेशों में भारत का गौरव और देश में सुभाष जैसे ऐतिहासिक नेताजी की प्रेरणा रहने वाले विवेकानन्द की ऋणी तो माँ भारती रहेगी ही. देश के लिए सम्पूर्ण जीवन होम करने वाले, काव्य संगीत और वेदादि के विद्वान, स्वभाव से वीर-योद्धा विवेकानन्द वर्तमान युवा पीढ़ी के लिए प्रेरणा के स्रोत हैं तो कितने और यदि नहीं तो क्या यह मान लें कि आज के युग में विवेकानन्द प्रासंगिक ही नहीं !

प्रसंगवश यह विचार करना भी उचित होगा कि विवेकानन्द यदि आज होते तो क्या वे बाबरी मस्जिद गिराने के लिए निकाले गये जुलूस का नेतृत्व करते ? उन्होंने तो धर्म के बारे में अपने विचारों को स्पष्ट करते हुए कहा था कि संसार के जितने भी धर्म हैं वे न तो एक दूसरे के शत्रु हैं न एक दूसरे के विरुद्ध........हमें किसी भी धर्म से द्वेष नहीं रखना चाहिये. हमारी सब धर्मों से सहानुभूति होनी चाहिये. यह सहिष्णुता ही हमारी संस्कृति का प्रमुख गुण है. दूसरी ओर हमारे वर्तमान के सामाजिक और धार्मिक नेता लोगों की भीड़ जुटा कर नारे लगवाते हैं."........'खून नहीं वह पानी है'....."ये नेता ही लोगों को विवेकानन्द को पढ़ने की सलाह देते हैं. उनके नाम से युवाओं को इकट्ठा करते हैं. उनसे नारे लगवाते हैं, और उन्हें बरगलाते हैं.

यदि विवेकानन्द का इस्तेमाल भी इस तरह से किया जाता है तो विवेकानन्द का वर्तमान से अप्रासंगिक रहना ही भला.

विवेकानन्द वर्तमान माहौल में क्या करते ! अवश्य ही अधिकांश नेताओं की तरह अपने-आप की छवि के निर्माण में दिन-रात एक न किये होते. वे तो जब नरेन्द्र थे, तब से ही अच्छा गाते थे. सामाजिक कार्यों में उनकी रुचि जग जाहिर थी. वे विद्वान भी थे. सामाजिक चेतना के लिए उन्होंने अपना जीवन ही होम दिया था. समसामयिक काल में यही कार्य 'सफदर हाशमी' ने किया और शहीद हो गये. इसमें तनिक भी आश्चर्य नहीं होगा, यदि हम यह सोचें कि विवेकानन्द भी यदि वर्तमान में होते तो उनका हश्र भी कोई दूसरा नहीं होता. यह बात तो सभी जानते हैं कि हत्यारों का कोई मजहब नहीं होता. हत्यारों के कोई आदर्श नहीं होते और हत्यारों के कोई मूल्य नहीं होते. वे लोग राजनीति का अपराधीकरण और अपराधों का राजनीतिकरण करने में लगे हुए हैं. ये लोग षड़यन्त्रों द्वारा, प्रपंचों द्वारा यानी कि हर कीमत पर अपनी सामाजिक और राजनैतिक सत्ता बनाये रखने की लिप्सा में रत हैं. उनकी लपलपाती जिह्वा के लिए विवेकानन्द और सफदर जैसों के लहू ही जीवन तत्व होते हैं. वे न सफदर को सहन कर सकते हैं, न विवेकानन्द को. उनके लिए हिन्दू, मुसलमान, सिख या ईसाई होना कोई मायने नहीं रखता, अपने समय में कबीर भी हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों के साझा शत्रु हुआ करते थे. ऐसे व्यक्तियों के लिए हर शै की पहचान महज वस्तु के रूप में है और वह तभी तक अर्थवान रहती है जब तक कि वह उनके लिए इस्तेमाल किये जाने योग्य हो. बहुत सम्भव है कि ऐसे लोगों के लिए विवेकानन्द प्रासंगिक तो हों, लेकिन उसी सीमा तक, जब तक कि वे इस्तेमाल किये जा सकें.

ऐसे व्यवसाइयों के कारण ही जो थोड़े-बहुत सच्चे चिन्तक हैं, वे सकते में हैं. इन व्यवसाइयों ने सामाजिक, साहित्यिक और सांस्कृतिक संस्थाओं को भी खरीद फरोक्त की सीमा में ले लिया है. ऐसी उपभोक्तावादी मानसिकता वाले ये लोग, महापुरुषों की जयन्ती पर और अण्डों की दुकान के उद्घाटन के अवसर पर समान भाव से भाषण करते हैं. गांधीवादी संस्थाओं को चन्दा देते हैं तो मदिरा की दुकानों के ठेके भी उसी मुद्रा में दिलवाते हैं. विवेकानन्द जयन्ती पर मुख्य अतिथि बनते हैं, अनेक संस्थाओं के स्वयम्-भू अध्यक्ष बने रहते हैं और डोनेशन देकर अपने बच्चों को अंग्रेजी माध्यम से शिक्षा दिलाकर देश के लिए आदर्श नागरिक तैयार करने के पुण्य-कार्य में संलग्न रहते हैं.

वस्तुत: वर्तमान में फैले इस सारे तन्त्र को तोड़ने के लिए ही विवेकानन्द जैसे निर्भीक और विद्वान योद्धा की जितनी जरूरत आज है, उतनी शायद फिर कभी न हो. विवेकानन्द, जो संसार के बारे में सोचकर भी योगी, समाज के बारे में चिन्तन करते हुए भी संन्यासी, सभी धर्मों के लिए आदर देते हुए सभी धर्मों की उन्नति के लिए प्रयत्नरत धार्मिक व्यक्ति थे. ऐसे व्यक्तियों से वर्तमान की पहचान होनी चाहिये और इसके लिए समवेत प्रयत्न अपेक्षित है. इस तरह के व्यक्ति कभी अप्रासंगिक नहीं होते, यह तो हमारा दुर्भाग्य है कि हम उनकी छाया-प्रतिभा तक को तरस रहे हैं. यह तरसना ही उनकी प्रासंगिकता का ज्वलन्त सबूत है.

नाक की बात

प्यारे मित्र,

व्यक्ति के व्यक्तित्व में नाक का महत्व निर्विवाद रूप से स्थापित है. नाक के बिना किसी भी व्यक्ति की कल्पना हास्यास्पद होती है. हम अखबारों में आये दिन व्यंग्य चित्र देखते हैं, उन व्यंग्य चित्रों में नाक का कटाव प्रमुख होता है. किसी विशेष प्रकार की नाक से ही व्यक्ति-विशेष की आकृति आंखों में कौंध जाती है. आजकल टी. वी. में गांधीजी की आकृति नाक और चश्मे से ही दिखाई जाती है. अनेक लोगों को अपनी सुतवा नाक पर गर्व होता है. नाक के बारे में बात करते वक्त भी व्यक्ति की कोशिश यही रहती है कि उसके नाक पर मक्खी न बैठे, चाहे इस प्रयास में दूसरे की नाक कट ही क्यों न जाय. आखिर अपनी-अपनी जगह हर व्यक्ति अपनी छवि को निखारना चाहता है.

नाक की प्रतिष्ठा और देह में उसके महत्व से मैं भी भली-भांति परिचित हूँ, होऊँ भी क्यों नहीं ! अपनी इस नाक पर मैंने भी अनेक हमले झेले हैं. जब-जब छुपे हुए मित्रों ने और जाने हुए दुश्मनों ने समझ लिया कि इस बार तो गयी ही गयी, इस नामुराद की नाक. लेकिन हर बार इसे और कुछ उठा हुआ ही पाया है, उन नामुरादों ने भी. इस जिजीविषा के संघर्षपूर्ण व द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद में रोटी-लगोटी चाहे न बचा पाये हों, नाक अवश्य बचा पाये हैं. इस समाज में आम आदमी के पास अपना करने को बचा ही क्या है, नाक के सिवा ! इस तरह देश के असंख्य लोगों के साथ मैं भी आश्वस्त हूँ कि बहुत बड़े घाटे और उधार पर आधारित अर्थव्यवस्था से भी इस बेचारी नाक की नाक तो नहीं ही कटेगी.

सवाल जब नाक का होता है तो हर कोई अतिरिक्त सतर्क रहता है. इसीलिये जब हमारे 'पिताजी' (जो कि हकीकत में हमारे बेटे हैं, और यह थ्योरी भी हमारी अपनी है) कक्षा तीन, वय आठ वर्ष ने 'आदमी' पर एक लेख लिखा और उसमें आदमी के सारे अंगों का वर्णन तो कर दिया, मसलन दो हाथ, दो पैर, एक मुँह, दो कान, दो आंखें, एक पेट....आदि, का वर्णन तो कर दिया, लेकिन नन्ही सी नाक को जैसे भूल ही गया. अब जो होनहार कक्षा तीन में पढ़ता हो, उसे पेट की तो याद रहे और नाक की नहीं. वही आने वाली इक्कीसवीं सदी का असली मॉडल हो सकता है. पुरानी सदी का खटारा मॉडल होता तो कभी पेट का चक्कर भूल-भाल कर नाक की बात ही सोचता. धर्मराज से लेकर पौरुष और पृथ्वीराज तक के उदाहरण मौजूद हैं. मैं भी खरामा-खरामा ही सही इक्कीसवीं सदी को दस्तक देने के मुकाम तक पहुँच चुका हूँ और नये गांधी युग में असंख्य सांसों के बल पर अपनी देही को पोस चुका हूँ, फिर भी नाक के इस तरह महत्वहीन हो जाने की दुर्घटना को मेरा अधेड़ मन पचा नहीं सका, और मैंने भी इसे नाक का सवाल बना डाला. उस आठ वर्षीय होनहार

को अनेक तर्क देकर नाक की याद दिलाने की कोशिश की. लेकिन जिस उमर में कृष्ण ने कंस का संहार करके ब्रज की नाक बचाई थी, उस उमर का मेरा होनहार इस सदी की नाक के बारे में सोच ही नहीं पा रहा था. आखिर उसे एक लट्ठमार तर्क के सहारे समझाया तो वह बहुत ही जल्दी नाक का गहरा मतलब भी समझ गया कि जब तुम चौथी-पांचवीं कक्षा में आओगे और तुम्हारे भी मैडम की तरह चश्मा लगेगा तो उसे कहां टिकाओगे ? इस एक ही तर्क से वह होनहार नाक का असंदिग्ध महत्व समझ गया. लेकिन मेरे मन को चैन नहीं मिला. नाक के बारे में आने वाली पीढ़ी की ऐसी लापरवाही को देख-भांप कर किसके मन को चैन मिल सकता है !

नाक आदमी को दिया हुआ खुदा बाप का बेहतरीन उपहार है. नाक केवल आदमी के ही होती है, इसमें चौंकने वाली कोई बात नहीं है. सिर्फ चेहरे पर नाक की जगह पर दो छेद होना ही नाक की परिभाषा हो तो फिर सुतवा नाक, तीखी नाक, चपटी नाक, फैली नाक, कचौड़ी नाक, पकौड़ी नाक, तोता नाक, आदि नाक-भेद कैसे होते ! नायिका भेद में अनेक कलाबाजियाँ खाने वाले बिहारी, यदि नाक ही चेहरे पर ना होती तो कैसे लिखते इतना सब कुछ ! मैं तो मित्र, यहाँ तक घोषणा करने को हूँ कि आदमी के सिवा किसी के पास नाक होती ही नहीं.

जानवरों की बात बाद में करेंगे. पक्षियों, सरिसृपों की और जलचरों की बात भी बाद में करेंगे. नाक की बात हो तो इन्सान के बाद सीधा नम्बर आता है चने का. इस इक्कीसवीं सदी की कॉलबेल बजाते युग में जब सारे गुणा-भाग, माप-जोख कम्प्यूटर से होते हैं और हथोड़े छाप काम रॉबोट से, तब भी अक्सर गलतियां हो जाती हैं. तब, जबकि यह दुनियां बनी ही थी या बनने की प्रक्रिया में थी और, अकेले भगवान ही भिश्ती पीर बावर्ची सब कुछ थे. तब चने जैसी नामुराद चीज के नाक लग गई तो आश्चर्य की कोई बात नहीं थी. यों नाक तो चने के लग गई, लेकिन चना क्योंकि आदमी नहीं था, अत: नाक को पचा नहीं पाया और दौड़ पड़ा अल्ला-ताला के पास 'अपने मुँह मियां मिठ्ठू' बनने. आज तो खैर अनेक आदमी भी अपनी नाक को पचा नहीं पाते और चेहरे पर छत्तीस इन्ची मुस्कराहटें चिपकाये, आये दिन अपनी नाक कटवाते रहते हैं और खुश भी होते हैं. इस बात पर यदि किसी को अपने ख्याल में चमचा मन्त्रियों के चेहरे वा अधिकारियों के चेहरे उभर आते हैं तो वे कृपया इसे नाक के प्रसंग से जोड़ कर नाक की महत्ता को कम करने की नाकाम कोशिश कतई न करें. नाक की ही बदौलत चने भाई ईश्वर के दरबार से यों गिरे कि न हड्डी ही टूटी, न पसली, बस एक नाक ही टेढ़ी हो गई या कहें कि नाक ही कटी. यह दुर्घटना भी ऐतिहासिक थी, और आने वाली नस्ल के लिए सबक भी हो सकती है, बशर्ते सही सन्दर्भों में समझी जाये. वैसे भी नाक को लटकाये चना बेचारा क्या खाकर आदमी का मुकाबला कर सकता था ! अरे, उसके तो चने ही बिक गये समझो.

ज्योतिष शास्त्र में चने की तरह दबी नाक वाले को दब्बू और तुच्छ मानते हैं. चना

खुद इसका उदाहरण है. चने को आज भी कमजोर और हकीर मानते हैं. दाल खाने वालों को लोग पहलवान ही नहीं मानते. न जाने क्या सोचकर ईश्वर के दरबार में चना पहुँच गया था, आदमी होता तो मुमताज की तरह दबी नाक लेकर भी टॉप तक पहुँचता और वह भी फिल्म के क्षेत्र में. इसे कहते हैं इलम की बात, इसे कह सकते हैं नाक की बात. जैसे मुमताज की नाक.

नाक महज गन्धवाह ही नहीं होती, गन्धवाह तो अन्य प्राणियों में भी होती है, लेकिन नाक अन्य किसी के नहीं होती. मेरे मित्र, जानवर इसीलिये चश्मे से महरूम है. वे चश्मा पहने भी तो कैसे ! जब नाक ही नहीं तो चश्मा क्या दुम पर टिकायेंगे ? यहाँ तक कि तोताचश्मी नाम से मशहूर तोतों को भी नाक के अभाव में चश्मे नसीब नहीं होते. जानवरों की अनेक श्रेणियाँ अपनी थुथनी को, बया अपनी चोंच को ही नाक मानकर गौरवान्वित होने की चाहे जितनी असफल कोशिश करें, थुथनी तो थुथनी होती है, चोंच चोंच होती है, चोंच चाहे वह उल्लू की तरह टेढ़ी और तीखी होने के अलावा नाक की जगह पर ही क्यों न हो, न गिद्ध या चिड़िया की चोंच को नाक कहा जा सकता है, न सूअर और भालू की थुथनी को. नाक कहते ही उसे हैं जो गुलाब की-सी खुशबू तन-मन में रच बस जाती है, वह थुथनी या चोंच कहने से कहाँ सम्भव है ! ऊँट, कुत्ता, खरगोश, गाय, चूहे, छछून्दर, बन्दर, बकरे, बाघ, बिल्ली, किसी के भी तो नाक नहीं होती. लाख घी सूंघती फिरे, लेकिन कोई बिल्ली एक तीखी, लम्बी, डिम्पलिया नाक कहाँ से ला सकती है ! नाक न होने से ही तो सारे जानवर जानवर जैसे दिखते हैं. च्‌....च्‌....च्‌....बेचारे जानवर.

जानवरों में हाथी की जात और बात ही अलग है. गजानन स्वरूप की बात अलग से करनी वांछित है, विशेष कर नाक के बारे में. पखेरुओं में अण्डा तो प्रतिस्पर्धा में ही नहीं आता, लेकिन जरा सा सोचें कि यदि कौए, कबूतर, और मुर्गे नाकदार होते तो कौआ यावन उड़ाने भरते हुए, कबूतर गुटर-गूं करते हुए, और मुर्गा कुकड़ू-कू करते हुए जब अपनी नाक को गर्व से ऊँची करते तो कितने प्यारे लगते ! कितना प्यारा लगता है मोर नाचते हुए ! उसे तब पैरों को देख कर इतना दुख अवश्य नहीं होता, क्यों कि एक प्यारी-सी नाक तो मौजूद होती ही. हंस और बतखों को तैरते वक्त अपनी नाक बन्द रखनी पड़ती. मक्खी और मच्छर के नाक होती है अथवा नहीं, यह तो मित्र मैं नहीं जानता, लेकिन, यह जरूर जानता हूँ कि नाक के बजने का सुर, यदि वह नाक मादा की होती तो नर-मच्छर अवश्य आ जाते. बहुत सम्भव है कि आदमी की नाक के बजने से उनमें हीनता का आभास होता हो और अपने नाक न होने का गुस्सा वे आदमी को काट कर व उसका खून पीकर निकाल रहे हों, ऐसी अवस्था में यदि ईश्वर उन्हें भी एक अदद नाक दे देते तो आदमी को मच्छरों के काटने की यातना से दो चार न होना पड़ता और शायद मलेरिया जैसी नामुराद बीमारी से जूझना नहीं पड़ता.

जानवरों में गजानन का स्वरूप हाथी है. गजानन की लम्बी सूंड को देखकर किसे भक्ति नहीं आती. हाथी की सूंड ने तो जैसे सभी की नाकों का ठेका ले रखा हो. मित्र

मुझे तो लगता है कि सृष्टि को बनाते समय जिस रोज हाथी महाराज को बनाने का नम्बर लगा होगा, उस दिन जगत पिता ब्रह्माजी शायद भोले बाबा की बूटी चढा गये होंगे जौर फिर जो हाथी की नाक बनाने को बैठे तो जैसे हनुमान अपनी पूंछ को लम्बाने जा रहे हों, इस प्रकार हाथी की नाक बनाने में ही इतना 'रॉ मैटेरियल' काम में ले लिया हो कि अन्य जानवरों के लिए नाक बन ही न पाई हो. यों तबेले की बला गधे के सर वाली कहावत चरितार्थ हो गई और अन्य सारे प्राणी नाकहीना-योनि में रहने को मजबूर हो गये. उन्होंने तो पीनक में सारी सामग्री समाप्त ही कर दी होती, यदि देवी सरस्वती ने उनकी स्मृति में वास न किया होता. यद्यपि तब तक काफी देर हो चुकी थी, लेकिन तब भी बचे-खुचे से ही सही ब्रह्मा ने अपनी सबसे प्रिय कृति आदमी के एक नन्ही-सी नाक-ताक लगा ही दी. इस कृत्य के लिए आज भी परम पिता के प्रति कृतज्ञ हैं.

जानवरों में नाक लग भी गई होती तो क्या होता ! आदमी के अतिरिक्त नाक के बारे में समझता ही कौन है ! यद्यपि मेरे जैसे बुद्धिजीवी तो मानते हैं कि इस युग का आदमी भी नाक के बारे में सम्वेदनाहीन हो गया है, तब भी वह पशुओं जितना अनभिज्ञ तो नहीं है नाक के महत्व से. हाथी की घ्राण शक्ति तीव्र होती है, मान लो यह बात. लेकिन वह उसका उपयोग क्या करता है. हमने तो कभी हाथी को गुलाब का फूल सूंघते नहीं देखा. किसी हाथी ने कभी पण्डितजी की तरह गुलाब के फूल को कोट में टांगा है ! यह तो अन्धा भी कह सकता है कि हाथी दलदल में बेधड़क घुसा चला जाता है और कभी भी नाक पर या कहें कि सूंड पर रूमाल नहीं धरे होता. चींटियों के अव्वल तो नाक होती ही नहीं है और यदि होती भी है तो उसका उपयोग सिर्फ मिठाइयों को सूंघने में करती हैं. लेकिन, उससे भी चाव से वे वहाँ पहुँच जाती हैं, जहाँ कोई कीड़ा-मकोड़ा मरा पड़ा हो और वह सड़ रहा हो. यह नाक का सरासर दुरुपयोग नहीं तो और क्या है ! वैसे भी चींटियाँ रहती भी नालियों और पोखरों के पास बिल बनाकर ही तो हैं.

आजकल तो आदमी की नाक कहने भर की है. मित्र मेरे ! आशय को तुम अन्यथा न लेना, लेकिन यह तो सही है ही कि अब नाक न तो चम्पा, चमेली, केवड़े की खुशबूएँ सूंघने के काम आती है, न असली घी सूंघने के. अव्वल तो ये चीजें असली मिलती ही नहीं और मिल भी जाय तो कद्रदान कहाँ है ? आम लोगों को तो बासमती चावल और परवल चावल का फर्क तक मालूम नहीं, और तो और, फलां खुशबू नारंगी की है कि सन्तरे की, आम पका है कि उसमें से कच्ची कैरी की खुशबू आ रही है आदि आदि, कुछ भी तो मालूम नहीं पड़ता. हाँ, महिलाओं की बात अलग है. शायद इसलिए कि उनकी नाक भी ऊंची है. ऊंची एडी की सैंडिल पहने जब कोई मादाम गर्दन अकड़ाकर खटाखट करती नाक की सीध में बढ़ती चली जाती है तो अच्छे-अच्छे पुरुषों की नाक स्वत: ही नीची हो जाती है. खुदा खैर करे मेरे मित्र.

अन्धा आदमी अपनी लकड़ी एक ही बार खोता है-मरने पर, उससे पहले यदि उसकी लकड़ी टूट जाती है, छूट जाती है, या लुट जाती है तो उसे बेइन्तिहा दुख होता है.

मित्र, इस समय मुझे भी वैसी ही अनुभूति हो रही है. मेरे हाथ से मेरी नाक छूटी जा रही है. जिस नाक के बल पर मेरी चोंच-कलम, पिछले पृष्ठों पर दनादन चल रही थी, वहीं बल अब मुझसे जुदा होता जा रहा है, और वही अर्जुन, वही बाण वाली स्थिति हो रही है. नाक का मसला मेरे हाथ से छूटा जा रहा है तो ऐसा लगता है जैसे विपक्ष के हाथ से बोफोर्स छूटा जा रहा हो. इस नाक के बल पर ही तो कलम साहित्य के दरबार में अपनी नाक रगड़े जा रही थी, शायद आगे भी रगड़ती जायगी. लेकिन तब तक तो मेरे मित्र, अपनी नाक आप स्वयम् ही सम्भालें, क्योंकि हर यात्री अपनी ही जोखिम पर सफर करता है.

छंगेजी और त्रिभुज के तीन कोरा

तीन पथ, यानी कि त्रिभुज की तीन रेखाएँ. ऐसी तीन लकीरों से ही तो घिरा रहता है त्रिभुज का क्षेत्र. तीनों कोरा लगभग बराबर, योग एक सौ अस्सी. जब भी कोई कोरा बढ़ियाने की कोशिश करता है, शेष कोरा स्वत: छोटे होने लगते हैं. क्रिया की समानानुपातिक और समान बल से प्रतिक्रिया के न्यूटोनिक सिद्धान्त से फिर शुरू हो जाता है—शहर में बहुत कुछ असामान्य. शान्त वातावरण में अनायास बादल घुमड़ने लगते हैं, छींटाकसी की बूंदा-बांदी, तीक्ष्ण व्यंग-बाणों की तीखी बौछारें, और, इस तरह आषाढ़ी उमड़-घुमड़ के बाद सावनी फुहारें यानी कि सब-कुछ सामान्य. शहर फिर एक त्रिभुज में कैद हो जाता है. हर कुछ महीनों बाद इस प्रकार का तूफान रियाज सा हो गया है मेरे क्षेत्र के लिए यानी कि त्रिभुज की तीनों भुजाओं के लिए.

अड़ंगे ! कवि अड़ंगे, त्रिभुज के इस क्षेत्र में ऐसे घुसे, जैसे दूध में तक्र; लिहाजा सभी किस्म के दूध अपनी-अपनी सुरक्षा में लग गये. ऐसा लगा कि गली मोहल्ले में कोई नया कुत्ता घुस आया हो. कुत्ते तो कुत्ते शहर के इन्सान तक जाग गये और लगे अपनी-अपनी भाषा में, अपने-अपने संस्कारों में भोंकने. किसी द्वितीय श्रेणी के अनारक्षित डिब्बे का सा वातावरण हो गया शहर का, और फिर, वैसे ही धीरे-धीरे शांत भी हो गया. छंगे, टंगे और रंगे की निर्लज्ज नागरिक समिति, वैसे ही अपना काम बदस्तूर करती रही. इसमें अन्दर ही अन्दर हलचल तो किसी नामालूम वक्त शुरू हो चुकी थी, जिसका आभास ऊपर बाहर नहीं था. लेकिन, ज्वालामुखी तो तब फूटा, जब इस जिले का नव निर्मित सबसे बड़ा और महत्वपूर्ण नागरिक पुरस्कार 'छद्म श्री' छंगेजी को देने की घोषणा हुई.

हुआ यों कि एक बार छंगेजी ने सोचा, होली तो चली गई, मानो होठों तक आकर भंग की गोली चली गई. अब तो अप्रेल की रेल-पेल शुरू होगी. यारों का नेह-स्नेह रंग अपना बदरंग वा सुरंगपना अब धीरे-धीरे ही उजागर होगा. यूं ही अप्रेल भी बीत जायगा. अप्रेल-दर-अप्रेल, शेष अप्रेली ऊर्जा भी धीरे-धीरे नि:शेष हो जायगी, तो····सोचने की मुद्रा में बैठे छंगेराज अपनी अंगुली के पोर को निरन्तर सहला रहे थे, जो इस बात का सूचक है कि श्रीमानजी गहन विचार में व्यस्त हैं. जब भी आप पर सोचने का दौरा पड़ता है, आप इसी छठ्ठी अंगुली के पोर को सहलाते रहते हैं, इससे शायद उनकी छठ्ठी हिस जाग्रत होती है. तन्मयता पूर्वक यह क्रिया करते हुए वे बड़ी-बड़ी उलझनों को चुटकियों में सुलझा देते हैं. यह दीगर बात है कि चुटकी बजाने का नामुराद काम उनकी यह छंटी हुई कि छंगी उंगली नहीं कर सकती.

इस अंगुली से वे लोगों को नचाने का काम भी ले सकते हैं, लेकिन आजकल उन्होंने यह काम बन्द रखा हुआ है. उनकी इस छुटकी अंगुली ने उन्हें यह ज्ञान दे दिया है कि ऐसे फालतू कामों में वक्त जाया करना महापुरुषों का काम नहीं है. यदि ये काम

ही करते रहे तो देश चाहे पहुँच जाय इक्कीसवीं सदी में, वे यहीं के यहीं बने रहेंगे और बहती हुई गंगा मैया में हाथ भी नहीं धो सकेंगे. गंगा मैया तो वैसे ही निकल जायगी. उन्होंने तो इस बार बहती गंगा में स्नान करने की सोची थी. यही सोचने का महान् काम वे इस समय कर रहे थे. और इसीलिये छंगी अंगुली को सहलाये जा रहे थे. इस कार्य के लिए उन्हें अपनी महान् संस्था 'निर्लज्ज नागरिक समिति' का सहारा लेना था और वह भी इस प्रकार कि किसी को कान हिलने तक की भनक न मिले. अड़ंगे के अड़ंगे की उन्हें कोई चिन्ता न थी. उन्हें तो भीतर भीतर डर सता रहा था अपने प्रिय मित्रों टंगे का और रंगे का.

मित्र भी मिले तो भले मिले. रंगराज को यदि मालूम हो जाता कि मित्र का मन बहती गंगा में स्नान करने का है तो वह पहले उनका चेहरा नीले रंग में रंग कर उन्हें रंगा सियार बनाने में कोई कोर कसर नहीं रखता. एक बार भी रंगे का रंगा चेहरा फिर से स्वच्छ नहीं हो सकता. वे रंगा की रग-रग से वाकिफ थे, फिर अपना चेहरा रंगने ही क्यों देते. होली बीती और पूरा फागुन बीत गया, लेकिन क्या मजाल कि रंगे का जादू उन पर चल जाय. यही आदत टंगराज की भी है, हो भी क्यों न, आखिर वह भी तो इनका यार ही था. यार मार हुआ तो क्या हुआ, वे अपने बारे में भी तो कोई बेहतर राय नहीं रखते. टंगराज चेहरे को बदरंग करने में रंगराज से इक्कीस ही पड़ते थे. वे तो चेहरे रंगने के डाक्टर ही थे. टंगराज तो सामने वाले को पेड़ की ऐसी ऊँची और विकट डाल पर टांग देता था कि पनाह मांगने लगते थे लोग. छंगेजी जिनका नाम तो गलीराम है, अनेक दांव और घाव अपने इस मित्र के दिये झेले हैं. मित्रता का नाटक निभाये रखना इनकी चरित्रगत विशेषता है. इसी विशेषता का उपयोग करके इन्होंने छंगेजी को अनेक सामाजिक-साहित्यिक संस्थाओं से धकिया कर स्वयम् उन सब संस्थाओं पर कब्जा कर लिया है. आज भी वे ऐसी संस्थाओं के शृंग पर विराजमान हैं. यह दीगर बात है कि छंगेजी के व्यक्तित्व के अनुरूप संस्थाएँ स्वयम् अपने विकृत रूप को प्राप्त होकर इतिहास के झरोखों पर टंग गई हैं. इसी से आपका नाम टंगराज मशहूर हो गया है. अपने इन्हीं दो परम हितैषी विभूतियों की मदद लेनी है छंगेजी को.

छंगेजी ने प्रशासन में रह कर राजनीति की शिक्षा पाई है और राजनीति करके प्रशासन चलाने का काम किया है. इसलिये दोनों ओर उनके मित्र तथा शत्रु बराबर रहे. छंगराज, टंगराज और रंगराज ने जिले की राजनीति पर अपनी पकड़ चाहे मजबूत न की हो, सामाजिक पकड़ इनकी आज भी मजबूत है. जिले का कोई भी सामाजिक-साहित्यिक वा धार्मिक कार्य हो, चाहे वह प्रशासन के सहयोग से हो, वा कि जन सहयोग से, इनकी सक्रिय शिरकत के बिना नहीं हो सकता. इस बारे में जैसे कोई अलिखित समझौता हो तीनों में. साहित्यक कार्यों में रंगराज का महत्व स्वीकारा था, छंगराज और टंगराज ने. लेकिन इन दिनों साहित्यिक-जगत तो सुन्न चल रहा था, शायद धार्मिक कार्यों के कर्ता-धर्ता थे, टंगराज और प्रशासनिक एवम् जन सहयोग से होने वाले कार्य किया करते थे—छंगाजी.

छंगराज अपने आपको जिले के साहित्यकारों का पितामह मानते हैं और सामाजिक व खेलकूद संस्थाओं के जन्मदाता. शेखी बघारना इनकी आदत है. अपने-आपको साहित्यकारों का, पत्रकारों का, लोक कलाकारों का और खिलाड़ियों का भी मसीहा कहलाया जाना आपको बेहद प्रिय है. इसी जनवरी में स्थितियों को अपने अनुकूल जान कर छंगराज ने 'निर्लज्ज नागरिक समिति' के द्वारा जिले का सर्वोच्च पुरस्कार 'छद्मश्री' लेने की ठानी. माह अप्रेल में मौज मेले के लिए ही ऐसा एक जिला स्तरीय एवम् नगर प्रतिष्ठित पुरस्कार शुरू करने का विचार छंगेजी के ही दिमाग की उपज थी. वह नव-सृजित पुरस्कार आगे के वर्षों में इनके मित्रों को भी मिल सकता था, लेकिन ऐसा पहला-पहला पुरस्कार तो स्वयम् ही ग्रहण कर वे अपने जिले के लोगों को गौरवान्वित करना चाहते थे. यह पुरस्कार खुद लेने के लिए यह आवश्यक भी था कि पुरस्कार प्राप्त हो जाने से पहले टंगराज व रंगराज को इसकी हवा तक न लगे. यों छंगेजी अपने मित्रों को नाराज नहीं करना चाहते, क्यों कि मित्रों के नाराज होने पर सम्मान समारोह कौन आयोजित करेंगे. यदि पुरस्कार प्राप्त होने के बाद सम्मान समारोह धूमधाम पूर्वक न हुए तो पुरस्कार प्राप्त करने का अर्थ ही क्या रह जाता है ! बिना अखबारों के कवरेज कोई भी खबर लोगों की जुबान पर नहीं रहती. उसके बिना पुरस्कार ग्रहण करना जंगल में मोर नाचने के जैसा कार्य होकर रह जायगा. तब भी पहली रणनीति के तहत छंगराज ने तय किया कि पुरस्कार प्राप्त होने की भनक मित्रों के कानों तले न ही पहुँचे तो अच्छा.

किसी न किसी तरह छंगेजी ने इस होली पर यह पुरस्कार प्राप्त कर ही लिया. इसकी योजना बनी थी स्थानीय कार्यालय में, जो आगे बढ़ी प्रान्तीय कार्यालय में. जिले से जन-सहयोग प्राप्त करने के लिए, स्थानीय प्रतिभाओं को आगे लाने के लिए और उन्हें पुरस्कृत करने के लिए योजना के तहत तथा खेलकूद के पुरस्कार के लिए श्री छंगेजी का नाम आगे बढ़ा. यद्यपि आपका खेलकूद से और बच्चों व नवोदित प्रतिभाओं से अनुराग तो जग-जाहिर था, लेकिन प्रशासनिक आकलन के हिसाब से खेल-कूद के क्षेत्र में कुछ महत्वपूर्ण योगदानों को और कुछ संकल्पित व्यक्तित्वों को जब अनदेखी कर लिया गया, तो छंगराज का नाम निर्विवाद आगे रहा. ऐसी अनदेखी का यद्यपि उन लोगों पर विशेष प्रभाव भी नहीं पड़ा क्यों कि उन्हें मालूम था कि इस प्रकार के पुरस्कार प्राप्त करने के लिए 'निर्लज्ज नागरिक समिति' की बहुत जी-हुजूरी करनी पड़ती थी, अन्दर के खाने से या कि कहें कि दराज़ के मार्फत बहुत कुछ ऊंच नीच भी करना होता है और सही आदमियों का ऐसा स्वभाव ही नहीं होता. गर्ज यह कि जिले का ऐसा महत्वपूर्ण पुरस्कार अपनी झोली में डालने में छंगेजी सफल रहे. उनका मकसद भी यही था. अतः लम्बी लम्बी बहसों के आयोजन के पश्चात्, खेलकूद के साथ लोकजीवन में प्राचीन राग फाग के लिये आपके अमूल्य योगदान की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए निर्लज्ज नागरिक समिति ने इन्हें पुरस्कृत कर स्वयम् को और नगर को गौरवान्वित महसूस किया.

इधर त्रिभुज का एक कोण जब विस्तार पा गया, तो शेष दोनों कोण अव्यवस्थित

हो गये. भुजाओं के अनुपात बदल गये और त्रिभुज के पेट में मरोड़ से उठने लगे. रंगराज और टंगराज इससे हैरान तो जरूर हुए, लेकिन परेशान नहीं हुए. यह कोई अकेली रोशन घटना नहीं थी कि वे दोनों हैरान भी होते और परेशान भी. अनेक वर्ष पहले जब रंगनाथ को साहित्य के क्षेत्र में राजकीय पुरस्कार से अलंकृत करने की बातें हवा में जुकामित होने लगी थीं, तब भी ऐसा ही प्याली में तूफान आया था. तब छंगराज ने अपनी अदाकारी दिखाई थी और बात अपने भ्रूण में ही हश्र को प्राप्त हो गई थी. रंगराज और टंगराज का परेशान न होना ही छंगेजी की परेशानी का कारण बन गया था, इसी सोच में वे सुबह से अपनी छंगी अंगुली का पोर सहला रहे थे. अब तो सम्मान समारोहों के लिए रंगा और टंगा का सहयोग लेना निहायत जरूरी था, और, इसे कैसे प्राप्त किया जाय, यही चिन्ता छंगराज को परेशान कर रही थी. उन्होंने अपने कुछ खास प्रशासनिक मित्रों का सहयोग लेने की सोची.

बहुत ऊंची उड़ान भरी है, भाई ने, वह भी यारों से चुपके चुपके. यह तो यारों से ही उड़ने की कोशिश वाली बात हो गई. सोचा टंगराज ने, हमेशा मेरे से फिसड्डी रह जाने वाला और पटखनी खाने वाला, आज यह यारमारी की चाल कैसे चल गया. अपनी गफलत पर खुद को ही गुस्सा आने लगा. जितने मैंने इस जिले के लिए और यहाँ के नागरिकों के लिए काम किये हैं, इसे स्थानीय सांसद भी जानते थे, विधायक भी और प्रशासनिक अधिकारी भी. उनका मूल्यांकन न किया जाकर, छंगराज के आधे अधूरे और गैर महत्वपूर्ण कामों का ईनाम भी दे दिया गया. अब क्या हो सकता है! एक बार तो सोचा, वातावरण तैयार किया जाय, लेकिन इससे तो यार-मार का लेबल खुद उन पर लग जायगा और बिना कुछ किये ही छंगराज फिर से सबकी सहानुभूति पाकर हीरो बन जायगा. सांप के गुजर जाने के बाद लकीर पीटने को बुद्धिमानी नहीं कहते. पीटने दो लोगों को लकीर, वे तो समझते नहीं हैं, क्यों कि वे सब लोग साधारण लोग होते हैं. असाधारण लोगों के कार्य भी असाधारण होने चाहिये. असाधारण लोग सांप गुजर जाने के बाद खुद ही सांप बन जाते हैं, छुप कर मौके की प्रतीक्षा करते हैं और शत्रु के असावधान होते ही डस लेते हैं. अब तो छंगराज की आस्तीन में घुसना होगा. इसके सम्मान में समारोह आयोजित कर अगले वर्ष का पुरस्कार प्राप्त करने का जुगाड़ तो बैठ ही सकता है. गफलत में रहा तो उसमें रंगराज पहल कर जायगा. यदि छंगा मदद करेगा तो अगले वर्ष इस पुरस्कार का विजेता मेरे सिवाय और कौन होगा ! इस 'एक दूजे के लिए' वाली भावना से ही हमने चौ-रास्ते अपने झंडे गाड़े हैं. आज गलीराम राजपथ हो गया तो क्या हो गया ! टंगराज कौनसा हमेशा टंगा ही रहेगा. इस प्रकार सोचते ही टंगराज ने तुरत फुरत छंगेजी के सम्मान में समारोह करवाने की योजना तैयार की और पहुँचे छंगजी के दरबार में, हें····हें - हें····करते.

उधर रंगराज ने देखा कि फिसड्डी रह रहा हूं तो उसने छंगेजी के जीवन साहित्य का सांगोपांग अध्ययन किया और अनेक आर्टिकल लिख दिये, नगर के महान नायक श्री

छंगेजी पर. छंगराज के सम्मान समय के अनेक रंगीन और श्वेत श्याम चित्र खींच कर अखबारों को भेजना शुरू किया.

छंगराज की समस्या तो इस तरह स्वयम् ही हल हो गई. उसने अपनी छंगी को सहलाना बन्द कर दिया और कान की लौ खुजलाने लगा. उसे टंगराज और रंगराज के इस प्रकार से शुभेच्छु हो जाने पर आश्चर्य होने लगा. इस वक्त तो वह आश्चर्य व्यक्त करने में भी असमर्थ था. क्योंकि उसे उन दोनों के नाराज हो जाने का डर था. वह जानता था कि दोनों ही उचित मौके की तलाश में हैं और उन्हें ऐसा कोई मौका छंगराज से नहीं मिलने वाला. रह-रह कर उसे लगता कि भविष्य किसी अनिष्ट की आशंका दे रहा है. उसे शायद कानों से भी कम सुनाई दे रहा है. वह यद्यपि प्रत्येक सम्मान में प्रसन्न दिखाई दे रहा है और कमोबेश हर अखबार में उसका मुस्कराता सुन्दर-सा चित्र भी छपता है, तब भी उसकी मानसिकता किसी उग्रवादी से धमकी प्राप्त डरे हुए आदमी की सी हो रही थी. अपने दोनों मित्रों को बचपन से जानने वाला वह भला चैन से कैसे बैठ-सो सकता है ! रंगा-टंगा के सौम्य चेहरों के पीछे का तूफान फिर से त्रिभुज की तीनों रेखाओं और तीनों कोणों में आने वाले बदलाव का संकेत दे रहा है. उसने कुछ सोचा, टेलिफोन उठाकर बतियाने लगा. अपने मित्रों रंगा और टंगा से. भविष्य की योजनाओं के बारे में बात करने के लिये. चारे का इन्तजाम हो गया, उसने सोचा. ।

यह सवाल सतही नहीं है

प्रतिभाओं पर सियासती हमले इस समाज के लिए नई बात नहीं है. नई बात तो यह है कि हम इसके अभ्यस्त होते जा रहे हैं और जाने-अनजाने इन सियासती षड़यन्त्रों के सहभागी हो जाते हैं. हाल के हमारे क्रिकेट की कहानी कहें कि के. श्रीकान्त के हश्र की कहानी ! इससे पहले विश्व के महान् बल्लेबाज वेंगसरकर की कहानी चिल्ला-चिल्ला कर क्रिकेट के भीतर छिपे सियासती चेहरों की कुत्सित मानसिकता का ताजा दस्तावेज है. मोहिन्दर अमरनाथ, वेंगसरकर के बाद रविशास्त्री और श्रीकान्त जैसी प्रतिभाओं पर सियासती डण्डे चलते रहे और क्रिकेट प्रेमियों की सम्वेदनाएँ सोती रहीं या कि रोती रहीं. हमें पता नहीं कि इसे किस प्रकार की सामाजिक चेतना की कोटि में रखा जा सकता है.

हमारा वेंगसरकर, श्रीकान्त या कपिलदेव से कोई रिश्ता नहीं है. रिश्ता तो हमारा क्रिकेट से भी इतना ही है, जितना अखबार के माध्यम से या कि टी. वी. के माध्यम से सम्भव है. लेकिन सबके बावजूद हमारा रिश्ता समाज से है, समाज की चेतना से है और चेतना की फली-फूली प्रतिभाओं से है. प्रतिभाएँ चूंकि कोमल कोंपल की तरह नाजो-लाड से पाली जाती हैं, अतः उन पर समाज की तथाकथित हस्तियों द्वारा जब-जब कलुषित व्यावसायिक चालें चली जाती हैं, और उन घटिया चालों का प्रभाव देश और देश के गौरव पर पड़ने का अन्देशा होता है, तो मौन सार्थक नहीं, त्याज्य हो जाता है और, अपने स्तर पर ही सही, ऐसी हर घटिया चाल का विरोध करना हमारा प्रथम दायित्व हो जाता है.

कहानी शुरू होती है खिलाड़ियों और कण्ट्रोल बोर्ड के बीच उस विवाद से जो अदालत तक गया, बल्कि उससे भी पहले जब क्रिकेट के आकाश पर उड़ाने भर रहे मस्त महात्वांकाक्षी परिन्दे मोहिन्दर अमरनाथ के पर कतरने की प्रक्रिया शुरू हुई थी. इस पुराने प्रसंग पर बहुत बहसबाजी हो चुकी है और अदालती फैसले ने यह स्पष्ट कर दिया था कि खिलाड़ियों का पक्ष ही सही था. इसके परिणाम स्वरूप बोर्ड को एकबारगी तो खिलाड़ियों को तवज्जो देनी ही पड़ी.

शीघ्र ही यह स्पष्ट होने लगा है कि बोर्ड ने महज वक्त की गर्मी शान्त होने तक के लिए ही अपना रवैया सहयोग पूर्ण और बदला हुआ रखा था. यह उस समय ही सिद्ध हो गया था कि जब कि दूसरे ही दौरे में मोहिन्दर अमरनाथ को अच्छे प्रदर्शन के बावजूद टीम से बाहर रखा गया. उसके बाद तो जो क्रम शुरू हुआ तो 'गाज' वेंगसरकर और श्रीकान्त के अतिरिक्त रविशास्त्री पर भी गिर चुकी है. दुनिया के लोग हैरान हैं कि इण्डिया में जो खिलाड़ी पहले दौरे में कप्तान होने के योग्य होता है, वह उसी क्रम के दूसरे दौरे में इस काबिल भी नहीं समझा जाता कि टीम में स्थान पाये. ये हकीकत ही अपनी कहानी आप कह देती है अथवा ये समझा जाये कि

हमारे खिलाड़ियों में भी दब्बुओं की भांति गैस भरी होती है कि गैस भरी हो तब तो आसमान में परवाजें और गैस निकली कि दब्बू 'फुस्स'.

निश्चित है कि समीकरण इतने आसान नहीं हैं. सवाल इतने सतही नहीं हैं, जितने कि सरसरी तौर पर देखने में नजर आते हैं या कि जितने हल्के ढंग से प्रस्तुत किये जाते हैं. यह रवैया न सिर्फ क्रिकेट के साथ बल्कि भारतीय खेलों के साथ बोर्ड का हाईकमानीय रुख है. यही वह सुप्रीम मानसिकता है जो राष्ट्र के खेलों का बंटाधार करती है.

खिलाड़ियों को आयु के हिसाब से, फार्म के हिसाब से या कि स्वास्थ्य के हिसाब से टीम बाहर रखा जाना अनेक बार अपरिहार्य और औचित्यपूर्ण होता है, लेकिन ऐसी समाज का आन्दोलित भावनाओं को आदर करते हुए इनसे सम्बन्धित समाचार प्रसार-प्रचार माध्यमों से व्यापक जन समूहों तक पहुंचाने में आखिर हानि ही क्या हो सकती है. अटकलबाजियों और अफवाओं से अनेक बार अपूरणीय क्षति हो जाती है. इन सबके बावजूद किसी भी खिलाड़ी को, चाहे वह नया ही क्यों न हो, इस तरह टीम से निकालना कि वह स्वयम् को बेहद अपमानित अनुभव करे, एक तरह से खिलाड़ी को सजा देना है, साथ ही, उसके प्रशंसकों को जाने-अनजाने उग्रवाद की ओर ढकेलने का प्रयास भी. यह एक तरह से खिलाड़ी को अपनी औकात बताने का प्रयास होता है और इस प्रकार के प्रयासों से खिलाड़ी का आत्म विश्वास टूट जाता है, जो राष्ट्र के गौरव को बढ़ाने के लिए खिलाड़ी में होना आवश्यक होता है. यहाँ एक बड़ा प्रश्न यह भी उठता है कि सही प्रदर्शन न करने पर खिलाड़ी को जहाँ दोषी माना जाता है, वहीं उसको चुनने वालों का दोष भी कुछ तो मानना ही चाहिए और उसी अनुपात में सजा बोर्ड को भी स्वीकार करनी चाहिये. लेकिन सजा हमेशा खिलाड़ी को ही मिलती है. अनेक बार तो ऐसी सजा अच्छे प्रदर्शन के बावजूद मिल जाती है.

मोहिन्दर अमरनाथ जब टीम से आउट किया गया था तो वह बड़ी अच्छी फार्म में था. वेंगसरकर के साथ में भी ऐसा ही हुआ और श्रीकान्त के साथ भी. जहाँ तक कमजोर परफारमेंस का सवाल है, बहुत अच्छी परफारमेंस तो पिछले कई मैचों में अजहर की भी नहीं रहीं. तब भी उसे लगातार टीम में बनाये रखा गया, माना कि हमें अजहर जैसे खिलाड़ी पर गर्व होना चाहिये, लेकिन यकीन से कहें तो यही मापदंड होता है, दोहरे मानदंडों को मापने का.

कपिल के बारे में अक्सर छपता है कि वह देश के लिए खेलता है और किसी की भी कप्तानी में खेलने को तत्पर रहते हैं तो अभी तक तो खबर कहीं पढने को नहीं मिली कि वेंगसरकर ने, श्रीकान्त ने या कि मोहिन्दर और रविशास्त्री ने कभी कहा हो कि वे फलाँ कप्तान की कप्तानी में ही खेलेंगे. इसका सीधा मतलब यही हो सकता है कि अभी तक कपिलदेव का विकल्प उपलब्ध नहीं है कोई, इसीलिये उस पर 'गाज' नहीं गिरी. किन्तु जो हालात और नजरिया दीख रहा है, "पूतों के पालने का" उससे तो लगता है कि सुरक्षित तो कपिल और खुद अजहर भी नहीं है. यह सम्भव

है कि उन्हें सबक देने का सही वक्त अभी दूर हो.

तो सावधान ! मेरे देश के क्रिकेट-खिलाड़ियो और क्रिकेट-प्रेमियो ! इन वरिष्ठ खिलाड़ियों ने अधिक पैसे की मांग करके सोते हुए सर्प की पूंछ कुचलने की चेष्टा की थी. इन्होंने 'आ बैल मुझे मार' वाली कहावत चरितार्थ की थी इसलिये इनके दुष्प-रिणामों के लिए इन्हें और हमें क्रमशः और किश्तवार तैयार रहना ही होगा, तब तक तो अवश्य ही जब-तब इनका भी कोई विकल्प न हो या कि कोई कान्हा इन्हें 'नाथ' न ले.

डायल १००

बच्चे से लेकर देश के बूढ़े, बहुत बूढ़े आदमी को भी पूछा जाय कि आज देश का सबसे अहम् मसला क्या है, तो वह क्षण भर समय लिए बिना बतायेगा कि राम जन्म भूमि, बाबरी मस्जिद का मसला. सत्ता पक्ष और विपक्ष के शीर्ष नेता अपने रोजाना के भाषणों में इसके बारे में कुछ न कुछ कहते रहते हैं. उनका मकसद चाहे कुछ हो, एक बात तो स्पष्ट है कि वे भी इस समस्या से बहुत चिन्तित हैं. एक तरह से इस मसले ने हमारी सामाजिक बुनियाद को ही हिला कर रख दिया है. इस मसले ने आतंकवाद के विश्वव्यापी मसले को भी हाशिये में कर दिया है. कई लोगों को यह साम्प्रदायिकता का मसला देश के पुन: विभाजन की हद तक भयानक लग सकता है. इस विभाजन की बीमारी को हमारा देश पूर्व में भी भोग चुका है और इसलिये इस देश को अनुभव है कि जब कोई अंग अलग किया जाता है तो कितना अधिक कष्ट होता है. साम्प्रदायिकता और आतंकवाद, दोनों के मूल में धर्म की कट्टरताएँ हैं. ये दोनों मसले कतिपय स्वार्थी तत्वों द्वारा हंगामाखेज तरीके से चलाई गई सुनियोजित योजना के नतीजे हैं. देश का नेतृत्व और बुद्धिजीवी वर्ग इस बात को अब बेहतर तरीके से समझ चुका है. अब तो समाज का सामान्य जन भी इन कुटिल चालों से अन्जान नहीं है. ऐसे कुत्सित षड़यन्त्रों का मुकाबला भी इतनी सावधानी और सतर्कता से करना होता है. इस बात को सब जानते हैं, लेकिन, दुख की बात है कि सभी कुछ जानते-बूझते भी इसके खतरनाक परिणामों को भोगने के अतिरिक्त कोई कुछ नहीं कर पा रहा है. और, स्वार्थी-तत्व खुल कर खेलने को जैसे आजाद हो गये हैं.

कुछ महीने पहले वाली स्थिति के बारे में सोचें तो ज्ञात होगा कि तब राम जन्म भूमि-बाबरी मस्जिद का मसला या कहें कि साम्प्रदायिकता का मसला कम से कम देश का शीर्षस्थ मसला नहीं था. कुछ माह पूर्व जब देश के राजनेता अपनी राजनैतिक लड़ाइयों में व्यस्त थे, तब उनके एक दूसरे पर लगाये जाने वाले भौंडे आरोपों से खिन्न होकर देश के अनेक बुद्धिजीवियों ने और समाज के विचारकों ने, सामाजिकता से सरोकार रखने वाले लोगों ने तब अवश्य ही सामान्य जन के सम्मुख समस्याओं पर भी विचार किया होगा. उन राजनीति से सीधे-सीधे सम्बन्ध न रखने वाली समस्याओं यानी कि गैर राजनैतिक मसलों की यदि कोई मिसल तैयार की जाती तो उसमें महंगाई का मसला प्रथम स्थान पर होता और यह साम्प्रदायिकता का मसला सौवें नम्बर पर आता. लेकिन उस वक्त से लेकर अब तक थार मरुस्थल से अनेक रेत के बवण्डर गुजर चुके हैं. आसमां में अनेक बादल बने और बिखरे हैं, गरीब की आंखों के सपनों पर कुछ टीले रेत और पड़ चुकी है, आततायी भेड़ियों और सूअरों ने अनेक मेमनों की लीद निकाल कर रख दी है, चिड़ि-

याओं के अनेक अण्डे और नन्हे-नन्हे बच्चे बाज के उदर में समा चुके हैं, हवाओं में पूर्व से अनुपात में बहुत ही अधिक प्रदूषण व्याप्त हो चुका है, तब इस बदले हुए माहौल में मसलों की प्राथमिकताएँ भी स्वतः बदल गईं. आज साम्प्रदायिकता का मसला वस्तुतः देश का सबसे अहम् मसला हो चुका है जिस प्रकार अनेक आवश्यक टेलिफोन नम्बरों में 100 नम्बर की आवश्यकता गहरे संकट में फंसने पर होती है, उसी प्रकार इस सौवें नम्बर के मसले को भी इस संकट ने हमें याद करने पर विवश कर दिया है.

साधारण अवस्था में इतने महत्वपूर्ण सवाल का सौवें नम्बर पर होना इस समाज के लिए कोई आश्चर्य की बात नहीं है. इस देश के निवासियों ने कभी भी धर्म के लिए झगड़े नहीं किये. धर्म की सहिष्णुता ही हमारे समाज की विशेषता रही है. यहाँ जितने भी विदेशी आक्रमणकारी आये, उनके युद्ध-ज्वार इसके साँस्कृतिक समुन्दर में अपने आप निष्प्रभावी हो गये. अनेक तूफानों को झेलते हुए भी इस संस्कृति की अजस्र धारा प्रवाहमयी रही. अनेक सम्प्रदाय यहां अपनी-अपनी आस्थाओं के बाद भी एक दूसरे के साथ जीवित हैं. शैवमत, वैष्णव, रामानुज-सम्प्रदाय, कबीरपंथ, जैन-बौद्ध-ईसाई और बाद में मुसलमान. इसके साथ ही कई अन्य दक्षिण भारतीय धारा के रूप में प्रवाही रहे. इतने सारे सम्प्रदायों की तरह मोहम्मद साहब के मतावलम्बी भी यदि अपने धर्म का पालन करते रहते हैं तो इसमें भारतीय संस्कृति को कहाँ से आँच आने लगी.

एक व्याख्या यह की जाती है कि देश का बहुसंख्यक वर्ग हिन्दू धर्म को मानता है और इस लिहाज से इस्लाम को मानने वाले लोग अल्पसंख्यक हैं. इन्हें अल्पसंख्यक होने के नाते अनेक धार्मिक सुविधाएँ भी प्राप्त हैं. किन्तु, मूल प्रश्न तो यह है कि हिन्दू धर्म के अनुयायी कौन-कौन हैं. अनेक सम्प्रदायों को हिन्दू कहलाने में आपत्ति है. हिन्दू कहलाने से सिर्फ मुस्लिम भाई ही नहीं बिदकते, बल्कि जैन, बौद्ध और अब तो सिख बन्धु भी हिन्दू कहलाना पसन्द नहीं करते इन्हें हिन्दू कह कर सम्बोधित करना और सांड को लाल कपड़ा दिखाना लगभग बराबर ही जोखिम का काम हो गया है. दूसरी ओर अपने आप को भारतीय कहलाने में न हिन्दू को आपत्ति हो सकती है, न मुसलमान, सिख वा ईसाई या अन्य किसी मतावलम्बी को और, यदि होगी तो वह स्वीकार्य भी नहीं हो सकती. दक्षिण भारतीय लोगों को हम दक्षिणी-हिन्दू तो नहीं कहेंगे. इस तरह देश का सारा तबका भारतीय है और उसे भारतमाता की जय बोलनी ही होगी. चाहे कोई जैन हो, बौद्ध हो या किसी और मत को मानने वाला; अपने देश के प्रति सम्मान तो उसमें होना ही चाहिये. इस देश के विधान को भी मानने के लिए सभी भारतीय बाध्य होने चाहिये. यहाँ राम की भी पूजा हो, ईसा भी पूजे जायें, महावीर और मोहम्मद भी माने जायें, अजानें भी लगें, और आरतियां भी हों. जब देश का नागरिक 'राम' अन्य नागरिक 'रहीम' के साथ रह सकता है, रामदीन और अलादीन एक ही मोहल्ले में रह सकते हैं तो उनके ईश्वर पास-पास क्यों नहीं रह सकते ! इस प्रश्न को अब और समय तक परे नहीं धकेला

जा सकता. हमें अब सभी प्रश्नों के वार झेलने लायक हौंसला पैदा करना ही होगा. साम्प्रदायिकता का सवाल सीधा-सीधा आदमी की आस्थाओं से जुड़ा सवाल है, और इसीलिये, अधिक संवेदनशील भी है. इस मसले पर तटस्थता से वही सोच सकते हैं जो हिन्दू होने से, जैन होने से, सिख होने से या कि मुसलमान होने से पहले भारतीय हों. जो इस देश के प्रति अपनी जिम्मेदारी को धर्म या मजहब के प्रति अपनी जिम्मेदारी से तरजीह देते हों; वे ही इस मसले पर तटस्थता से सोच सकते हैं. ये सवाल सियासी नहीं हैं कि सरकार पर अथवा नेता के विवेक पर छोड़ दिये जायें. संस्कृतियां हमारी जीवन-पद्धति तय करती हैं, फिर चाहे वह किसी भी सम्प्रदाय की संस्कृति हो. जीवन से जुड़े ये सवाल आज सौवें नम्बर पर नहीं रहे, बल्कि 100 नम्बर डायल करने जैसे सवाल हो गये हैं, ये साम्प्रदायिकता से जुड़े हुए सवाल. बहुत सम्भव है कि समाज और सम्प्रदाय से ऊपर उठकर सोचने में अनेक दबाव आड़े आ रहे हों, तब भी इसकी एक ईमानदार और सार्थक कोशिश तो होनी ही चाहिये और यह की ही जा सकती है. अमीर-खुसरो, रहीम, रसखान, कबीर, रामानुज, तुलसी और कवयित्री ताजू आदि के अतिरिक्त अकबर, राणा प्रताप व शिवाजी ने अपने-अपने स्तर पर स्वयम् को सम्प्रदायों से ऊपर स्थापित किया था. उन्होंने धार्मिक समन्वयवाद को जिया था, जिसको हम-आप बहुत सुसंस्कृत और इक्कीसवीं सदी के यात्री मानने के बावजूद भाषणों से आगे नहीं अपना पा रहे हैं. आज हमारे पास ऐसे व्यक्तियों की कमी है. कुछ व्यक्ति यदि सम्प्रदायवाद से ऊपर उठ जाते हैं तो भी वे राजनीति से ऊपर नहीं उठ पाते अतः हमें दूसरों पर आश्रित न रह कर यह छोटे पैमाने पर ही सही, अपने अपने क्षेत्र में करना चाहिये. ये समस्याएँ हमारी अपनी हैं, अतः उन पर सोच-विचार करने का और उन पर अमल करने का उत्तर-दायित्व हम पर ही तो आयेगा. इन तथाकथित सम्प्रदायवादियों के लिए तो सन्त दादू बहुत अरसा पहले ही कह गये हैं—

"दादू दून्ये भ्रम है, हिन्दू तुर्क गंवार"

इसलिये आइये ! समस्त तर्क-वितर्क से परे हट कर इस आसन्न संकट को हल करने के लिए अव्वल नम्बरीय समस्या को प्राथमिकता दें और करें—डॉयल 100.

हर शै फजूल है, चाय अगर····

है कुछ बात कि उनसे भागते हैं हम,
गरज कि उसी की याद में जागते हैं हम.

किसी की याद में जागना किसी नौजवान युवा वा युवती के लिए स्वाभाविक हो सकता है और जायज भी. ये उसकी उसके दिल के हाथों मजबूरी भी हो सकती है. लेकिन, किसी के जागते रहने जैसी सतही बात के लिए कलम अपने फन पर खड़ी नहीं हुआ करती. और, यदि ऐसा हुआ है, तो यह जागना आम नहीं हो सकता, कलम का फन में आना या कि फन का कलम पर आना इसलिये जरूरी हुआ है कि एक मजबूरी है जिसे हम हमाल की तरह ढोये जा रहे हैं, आमों के एवज में बबूल बोये जा रहे हैं, और चुपके-चुपके या चौबारे यानी कि मेले में कि अकेले में, रोये जा रहे हैं. क्योंकि, इधर मिलते नहीं हैं आम, और मायूस हैं नौजवान, नेता-अभिनेता, टीचर-फटीचर, बुद्धिजीवी-शुद्धिजीवी, देवियाँ-समाज सेवियाँ, युवा-वृद्ध, बाल, खूंसट और नौनिहाल सबकी अपनी-अपनी मजबूरी है. किसी को थोड़ी तो किसी की पूरी है, किसी की घासलेटी तो किसी की कपूरी है, किसी की स्याह तो किसी की सिन्दूरी तो किसी की मजबूरी है कि मिलती नहीं तन्दूरी तो किसी की मजबूरी है—करना जी-हुजूरी. किसी को मिलता नहीं मकान, किसी की चलती नहीं दुकान, किसी का जलता नहीं चूल्हा, किसी को मिलता नहीं दूल्हा, गर्ज यह कि मजबूर है हर इन्सान. लेकिन लेखनी का काम नहीं महज करना उनका बखान. इसकी मजबूरी भी आम मजबूरी है. वह मजबूरी जो बजा रही है—मेरा आपका सबका बाजा—हमारा सुख-दुख है साझा, बांटा नहीं जा सकता है आधा आधा; इसलिये करके पक्का इरादा, कर रहा हूं मजबूरी को बेनकाब. हाँ ! तो जनाब, जिससे बेबस है—बाबू से लेकर साहब, उस मजबूरी का नाम जानने को जी ललचाय, तो सुनिये·······जनाब, वह मजबूरी है—चाय

चाय ! जी हाँ, चाय. आश्चर्य मत कीजिये, चाय पीना मेरी आपकी सबकी मजबूरी है. कोई आवे तो चाय, कहीं जावे तो चाय, दफ्तर में चाय, घर में चाय, फैक्टरी में चाय, कलैक्टरी में चाय, अकेले में चाय, मेले में चाय, जो न पिये चाय, वो कंजूस-मक्खीचूस, बेकार, गंवार, असभ्य और न जाने क्या-क्या कहलाये ! जो पिये और पिलाये, वह साहब कहलाये, सभ्य कहलाये, अंग्रेज कहलाये. इसीलिये हम सब तब और अब, अब और तब पीते हैं चाय····और चाय····और चाय.

इस युग की सभ्य और आधुनिक माताएँ अपने चिरागे-रोशन को जन्म से ही पिलाती हैं ये धीमा और मीठा जहर, गोया कि इसके पान से ही बच्चा हो जायगा अमर. आज के गोपाल दूध नहीं चाय पीते हैं, और "हाय-हाय" करते जीते हैं. बच्चा लोगों ने घर के बाहर कदम रक्खा न रक्खा, चाय को जरूर चक्खा. फिर बिना धूप के ही

बाल सफेद होने शुरू और बिना पढ़े ही हो गया लुच्चों-लफंगों का गुरु. हमारे पुराने जमाने के बड़े बूढ़े कहते थे, 'साठ से पहले सूंठ नहीं, क्योंकि आदमी आदमी है-ठूंठ नहीं, गधा घोड़ा या ऊंट नहीं'. मतलब ये कि साठ साल की उमर तक बदन में यौवन की गर्मी रहती थी और सूंठ जैसे गरम खाद्य से वे देह की स्वाभाविक ऊष्मा को समाप्त नहीं करते थे. चाय भी तो एक गरम पेय है. अपनी सहेजी हुई दैहिक ऊष्मा से वे लोग तो लोहे के चने तक चबा देते थे, बग़ल में हाथी को दबा देते थे, क्योंकि तब वे उम्र के पांचवें दिन से ही बालामृत की तरह चायामृत नहीं देते थे, अपने बच्चों को. इस चायामृत-पान करने वालों की माताएँ तो स्वयम् काले बालों वाली होती हैं लेकिन उनकी औलादें होती हैं सफेद बालों वाली. कदम-कदम पर आजकल देख सकते हैं-बेटी के सफेद बाल और माँ पर जवानी का जलाल दर्शाते-से काले बाल. यदि रंगा न जाये तो लड़के वालों को बेटी की बजाय माँ पसन्द आ जाय.

अपनी अक्ल पर लगा कर ढक्कन, हमने विदा कर दिया मक्खन. गागर गागर न सही, ड्रमों-ड्रम दूध बहने लगा है शहरों की ओर. अब न तो नागरदास की छोरियां ही रही हैं, न छछिया भर-भर छाछ लेकिन नाच तब भी सभी लोग रहे हैं. बन्शी की तो कान्हा जाने, बाजे जरूर बज रहे हैं सबके. गांवों से दूध क्या बह रहा है, गांवों का नूर भी बहा जा रहा है. अब तो सुड़के हुए मुँह रह गये हैं, नौजवानों के. गोकुल रूपी गांवों से दूध-मक्खन मथुरा रूपी नगरों को पूरा जा रहा है, और कान्हा ! वह तो लगे हुए हैं, होटलों में चाय के भगोने धोने में.

हम करते हैं फैशन, लेकिन इसमें होता है, 'कोफीन.' देश-विदेश के चिकित्सकों ने चिन्तकों ने किये हैं इस पर शोध और बताया है कि इससे होते हैं हृदय रोग. पाचन शक्ति होती है निस्तेज, फीकी-फीकी लगती है सेज. 'ब्रॉड-गेज रेल हो जाती है—नैरोगेज'. अब तो नौजवान ही नहीं, नौजवानियां भी लगवा रही हैं चश्मे. इसे यूं कह सकते हैं कि—

मुहावरे हो गये हैं, कुछ यूं चस्पां
कि हर नूरे चश्म के लगा है चश्मा.

यदि कहा जाय तो इस युग के नारद श्रीमान चमचा साहब की तरह ही चश्मा भी एक आवश्यक अलंकरण हो गया है—फैशन का. जिसके मूल में 'च' चमचे और 'च' चश्मे की तरह ही है·····च्च्च्·····चाय.

यदि 'च' चश्मा और 'च' चमचा हमारे चचा हो गये हैं तो 'च' चाय हमारी चची से किसी भी तरह कम नहीं. यह चची हमारे किचन तक में घुस गई है. इसे चची न कह कर ताई कह सकते हैं, जिसने किचन में घुस कर आदमी को बना दिया है बछिया का ताऊ.

स्वीट सिक्सटीन-सी चीनीमय, महकती, उफनती, ऊष्मामय, मादक, लब से लिपटने को आतुर मौके-बे-मौके हर मौके सहचरी प्रिय-अतिप्रिय, सर्वप्रिय चाय. कौन है जग में जो इसके गुण न गाये ! थके हो तो चाय, आराम से हो तो हो जाय चाय, एक-एक

चाय, काम में हो तो चाय, बोर हो तो चाय, शोर हो तो चाय, कप न सही, आधा कप चाय, साली चाय न हो गयी, अंग्रेज हो गई कि हर समस्या का समाधान इसके पास ही हो. बस चाय पीना और जीना, जीना और चाय पीना, यही क्रम रह गया है जीवन का. आज के गोपाल दूध नहीं चाय पीते हैं और चाय की चाकरी हेतु दस-दस चक्कर डेयरी के लगाते हैं. डेढ़ से लेकर ढाई सौ रुपये प्रतिमाह औसतन चाय के भुगतते हैं, चिरौरी करते हैं ग्वालों की. आँखें होते हुए भी पानी मिले दूध की और ग्वालों की झूठी तारीफ किये जाते हैं और यार दोस्तों के साथ महंगाई का रोना रोते हैं, सरकार से हाय तौबा करते हैं, हड़तालें करते हैं और सौ-पचास रुपये बढ़वा कर चाय में होम देते हैं.

मेहमानों को चाय पिलाओ तो वाह-वाह, न पिलाओ तो हाय हाय. टनों लिटर दूध चाय में स्वाहा कर देते हैं, ठेठ देहाती भाषा में बोलें तो दूध के घर की काळी करके फिर उसे पीते हैं. आधी उमर बीमारी ढोते हैं, आधी उमर में मर जाते हैं, बच्चे अनाथ होते हैं यूं चाय पीने-पीने में. इस प्रकार हम अधिक पढे-लिखे लोग यह साबित करने में जुटे हैं कि अकल नहीं, बड़ी भैंस होती है जो दस किलो दूध देती है. अकल धवल प्रकाश-सी या सफेद दूध की मानिन्द दूधिया, और भैंस चाय की मानिन्द श्यामल और चूंकि, चाय दूध से महत्वपूर्ण और बड़ी है, तभी तो सबके सिर चढ़ी है. मेरी अकल पर पड़े नहीं पत्थर"""नहीं, नहीं, मेरी भैंस पर पड़े नहीं पत्थर, इसी-लिये जोड़ कर 'कर' कर रहा हूँ""पाठ स-स्वर""

ले""चल, ले चल मेरे साथी,
ले चल मुझे उस होटल में""
चाय ही चाय हो""जहां""
ले""चल""

तो प्यारओ""वो कहा है न कि—

इसके नियाजो करम से–
कौन सी शै मिली नहीं
पेट ही मेरा तंग है–
इसकी कहीं कमी नहीं.

किसी पर्व-त्यौहार, अवसर अथवा किसी बहाने की भी तनिक जरूरत नहीं, बस बैठ गये बीस लोग और आ गयी चालीस चाय. बीस लोगों की भी जरूरत नहीं, दो ही बहुत हैं. कभी-कभी तो अकेले ही पी लीजिये चाय. बैठ जाइये, कहीं गोड़े जोड़ कर और शुरू कीजिये दौर. करिये गपशप, और पीजिये चाय गपागप. आप नहीं कर सकते मना, न पीने से न पिलाने से. चाहे आपका पेट खराब हो, या सड़ गई हों आंतें आपको माननी ही पड़ती है भाई लोगों की बातें. सारा जमाना दुःखी है. बहुत सारे मेरे जैसे सोचकिये तो आत्महत्या तक की सोचते हैं और सोच कर रह जाते हैं, चलो दो-चार चाय और पीकर ही फिर आत्महत्या की सोचेंगे. बड़ी बेबसी से इस तरह जी रहे हैं, यानी कि जीने के लिये मजबूर किये जा रहे हैं. इसलिये कि इसके अति-

रिक्त सारे जहर नकली हो सकते हैं, जबकि, चाय के ऊपर लिखा होता है, असली आसाम की चाय, शुद्ध हरी पत्ती की चाय, वृन्दावन की असली चाय या कि कोई और इसके असली होने की गारन्टी. और किसी जहर पर यों असली होने की गारण्टी कहाँ प्राप्त हो सकती है ! इसलिये आज मरने का सबसे आसान और सरल रास्ता यही बच रहा है कि चाय पी जाय. अगर आप वस्तुत: जीवन से दुखी हैं तो चाय पीने वालों के साथ हो जाइये, उनसे शर्तें लगाइये, इनाम पाइये और यदि अधिक ही हौसले वाले हैं तो गिनीज बुक में नाम लिखाइये. यह बात अवश्य ध्यान में रखें कि—

इस चीज की, उस चीज की,
किसी चीज की कमी नहीं
हर शै फजूल है,
चाय अगर मिली नहीं.

महंगाई को मारे सो मीर

महंगाई को मारे सो मीर. लेकिन मीर को कहाँ पीर. महंगाई से त्रस्त तो जनता है, जो गरीब अधिक है. ये गरीब लोग एक अच्छे भविष्य के लिए कभी इनको और कभी उनको वोट देकर जिताते रहते हैं और मीर लोग हैं कि न जाने क्यों जीतने के बाद अपनी प्राथमिकताओं का रूपान्तरण कर देते हैं. आप आज ही देख लीजिये, किसी भी अखबार को उठाकर, किसी का भी इन्टरव्यू पढ़ लीजिये, हर किसी में मुख्य तीन समस्याओं का जिक्र पढ़ने को मिलेगा—पंजाब समस्या, काश्मीर के उग्रवाद की समस्या और रामजन्म भूमि-बाबरी मस्जिद विवाद. सभी राजनैतिक लोग इस बात पर एक मत हैं कि सरकार को इन समस्याओं को प्राथमिकता से हल करना है.

लेकिन मेरे गाँव का कलुआ इस बात को नहीं समझ पा रहा है. वह तो समझ ही नहीं पाता कि पेट से बढ़कर कोई समस्या हो भी सकती है और कि भूख से भारी कोई सवाल. यदि हो भी तो वह पेट और भूख से महत्त्वपूर्ण तो हरगिज नहीं हो सकता. वह बेचारा अनपढ़ है, इसलिये बेचारा खीजकर कहता है कि इन सब समस्याओं को हल करने वालों को एक कमरे में बन्द कर देना चाहिये,—भूखा और प्यासा. फिर इन्हें कहा जाय कि पहले पंजाब की समस्या हल करो, काश्मीर के बारे में सोचो, रामजन्म-भूमि के बारे में नारे लगाओ, लेकिन भोजन की बात मत करो; तो इन्हें कुछ घन्टों में ही आटे-दाल का भाव मालूम हो जाय. परन्तु इस समाज में कलुआ की बात मानता ही कौन है ! मानना तो दूर उसकी बात को कोई सुनता तक नहीं. वैसे कलुआ को जानने वाले भी कितने होंगे इस समाज में !

मुझे उस मास्टरजी की बात भी यहाँ प्रासंगिक लग रही है, जिसने बदलती हवा, नई आने वाली रोशनी, करवट लेते मूल्यों और नूतन सामाजिक-सांस्कृतिक क्रान्ति जैसे भारी भरकम शब्दों के जवाब में लगभग मुस्करा कर व्यंग के लहजे में तथागत गौतम और शिष्य आनन्द की कथा सुनाई थी. बुद्ध के शिष्य आनन्द उन दिनों अपने उपदेशों से आत्म-मुग्ध से हो रहे थे; क्योंकि अनेक लोग बौद्ध दर्शन की ताजगी और नवीनता से प्रभावित होकर बड़े पैमाने पर इस धर्म को अंगीकार करते जा रहे थे. इस दर्शन की ओर आकर्षित होने और इसे अपनाने वालों की संख्या दिन-प्रतिदिन बढ़ती ही जा रही थी. ऐसे अनुकूल माहौल में एक व्यक्ति उनसे ऐसा भी टकरा गया जो उनके उपदेशों पर बहुत ही ठण्डी प्रतिक्रिया व्यक्त कर रहा था. ज्यों-ज्यों आनन्द के उपदेश गहन और प्रखर होते जा रहे थे, उसकी प्रतिक्रिया उसी अनुपात से उदासीनता और फिर उपेक्षा में बदलती जा रही थी. अन्ततः उससे लगभग हार मानकर आनन्द तथागत के पास आये, उन्हें सारा घटनाक्रम सुनाया और मार्ग-दर्शन की प्रार्थना की. दूसरे ही दिन तथागत स्वयम् उसके पास गये, और उस व्यक्ति को देखा तो वे सारी बात बिना कहे ही समझ गये. उन्होंने उस व्यक्ति को पहले तो

भोजन कराया, फिर उसे उपदेश दिया और अपना शिष्य बनाया. मास्टरजी की बात तो यहीं खत्म हो जाती है, लेकिन वास्तविक बात उसके बाद से ही शुरू होती है, वह यह कि जब तक पेट व भूख की समस्या व्यक्ति के सामने मगर-मच्छ की भाँति मुँह बाये खड़ी है, अन्य कार्यों और क्रियाकलापों से वह उदासीन ही बना रहेगा. एक स्थिति के बाद वह इन कार्यों की उपेक्षा भी करने लगेगा, क्योंकि आम आदमी की प्राथमिकता तो अपना और अपने बच्चों का पेट पालना ही होती है. बच्चों के नन्हे-नन्हे हाथ जब उसकी कमीज के छोर को खींचते हैं तो उन कोमल हाथों को परे धकेलना उसके बस में नहीं रहता.

यह सोचना भोलापान ही कहा जायगा कि कोई व्यक्ति अपने चूल्हे से भी अधिक रामजी की भूमि को या कि बाबरी मस्जिद को बाबर ने बनाया था; इस बात को महत्व देगा. चूल्हे के मसले पर हिन्दू और मुसलमानों में कोई विवाद भी नहीं है, न ही कभी होने की सम्भावना है. दोनों समुदाय इस मामले पर तो एक मत होंगे ही कि चूल्हा व चूल्हे का परिवार सस्ता हो. "भूखे भजन न होय गोपाला" जैसी सनातन कहावतों की उपेक्षा की ही नहीं जा सकती. भूखे या अध-भूखे चाय की प्याली तक को तरसते लोगों को या कि दूध न होने से पीड़ित बच्चों को सिनेमायी फिल्म या कि मुक्त टी. वी. बेहतर मनोरंजन नहीं दे सकता. उसके दिमाग में तो दो और दो मिलकर चार नहीं होते, बल्कि दो और दो मिलकर चार रोटियां होते हैं.

पंजाब समस्या, काश्मीर का मसला, रामजन्म-भूमि का विवाद आदि विषय बड़े ही जटिल हैं, और इनके हल के लिए बड़ी ही गम्भीरता और धीरज की जरूरत है. गम्भीरता और धीरज तभी धारण किये जा सकते हैं, जब अवाम का पेट भरा हो. महंगाई के अजगर ने आम आदमी के पेट पर कुण्डली मार रखी है. लोग महंगाई के मगरमच्छ से बेहद दुखी और आतंकित हैं. उधर सारे ही मीर इस संक्रमण समय में लोगों को अपने-अपने तरीके से प्रभावित करने की चेष्टा में रत हैं और महंगाई है कि अपने में मस्त ! बढती ही जा रही रही है, अमरबेल की तरह. ऐसे में जो 'महंगाई को मारे सो मीर' क्योंकि लोगों की प्राथमिक जरूरत महंगाई की महामारी से मुक्ति ही है.

मच्छरों ने करवाई मेरी नसबन्दी

अभी पिछले दिनों हमारे गांव पर मच्छरों ने हमला बोल दिया. मच्छर जो पहले तो कभीकभार रात के समय ही काटा करते थे और जिनसे परेशान होकर हमें गजल न सही, शेर तो सूझ ही जाया करते थे; आजकल झुण्ड के झुण्ड दिन को ही हमला करने लगे हैं, यह लगभग वैसा ही है, जैसा कि वोटों के दिनों में नेताओं के हमलों में होता है. वैसा ही दुखदायी और अकथनीय पीड़ा भरा माहौल. हमले भी गांवों पर अनेक बार और अलग-अलग रूपों में होते ही रहते हैं कभी रामलीलाई हमला तो कभी रायशुमारीय हमला. कुछ न हो गाँव पर अफसरों का ही हमला होने लगता है. पिछले अकाल में ऐसा ही हुआ था. चालीस से ज्यादा अफसरों ने हमला कर दिया था, कभी एक-एक करके तो कभी चार-पांच के झुण्ड में. तो गरज यह कि मच्छरों ने हमला किया मेरे गाँव पर. उनकी छापामार-पद्धति कुछ ऐसी व्यवस्थित थी गोया 'लिट्टे' से उन्होंने प्रशिक्षण प्राप्त किया हो या कि लिट्टे ने ही इनसे सीखी हो यह कला. लेकिन इनके व्यवस्थित और अनवरत हमलों से दिन-रात को आराम हराम हो गया. सारा गाँव ही जैसे पं. नेहरू का अनुयायी हो गया तन मन से. वैसे भी इस राशन के जमाने में लोगों के शरीर में खून निर्धारित मानदंडों से कम ही बनता है और जो भी अल्प-सल्प बनता है, उसे ये मच्छर भाई इन्जेक्शन से खींचकर पी जाते हैं. मुसीबत इतने से ही खत्म नहीं होती, बल्कि और बढ़ जाती है, जब इन्हीं मच्छरों के कांधे चढ़ कर आता है,-मामा मलेरिया. इस मलेरिया के कीटाणु शरणार्थी की तरह आते हैं, और फिर आसाम में बंगालियों की तरह रम जाते हैं, शरीर में ऐसे मेहमान की तरह, जिसे देखकर कहते हैं कि 'जाड़ा बुखार आ जाता है.'

जी ! तो पहले मच्छर, फिर मलेरिया और न जाने क्या-क्या ! लाख दवाएँ की, उतर जाता है, फिर आ जाता है. इसका कोई टीका तो होता नहीं कि लगाया और घोषणा करवा दी, कि चेचक का रोगी बताओ, और लाख रुपया पाओ. अरे भाई, घोषणा करते, मलेरिया का रोगी बताने की तो मेरा तो गांव ही हो जाता लखपति. खैर, वह तो रही दीगर बात. बात यह कि लाख दवाएँ कीं, दुआएँ भी कीं, श्रीमती जी ने करवाई भी और इसके लिए न जाने कितने महंगाई भत्ते बांट दिये नये किस्म के भिखारियों में. यों अनेक दुआएँ भी कीं, भोपे भी नचवाये. अब साहब यों मत देखिये, माना कि बहुत पढ़े-लिखे भी हैं, लेकिन जब सर पर आती है तो सब कुछ करना पड़ता है. हमने तो ओखा-हरण के पाठ भी करवाये थे, पीर पुजवाये और हार कर पाउडर भी छिड़कवाये, अगरबत्तियां जलाई लेकिन मच्छर न गये, सो न गये. सारा गाँव ही इन रावळे घोड़ों जैसे मच्छरों से और इनके बावले असवारों जैसे मलेरिया से दुखी था, लेकिन काजीजी दुबले वाली कहावत मुझ पर ही लागू होती थी. पूछिये क्यूं ! तो जनाब यूँ कि गाँव में मलेरिया का डागडर आबू में ही था. वैसे भी हर बीमार की

सेवा करना हमारा काम ही था, तब मलेरिया का यूं हमला हो जाने पर सबसे अधिक चिन्ता हमें ही खाये जा रही थी. लोगों के दुःख दुर्द की कम, अपने सस्पेंड-वस्पेंड हो जाने की अधिक.

इसलिये कई प्रकार की मिन्नतें-मलानतें कीं. कुछ इबादतें मच्छर देवता को प्रसन्न करने को गढ़ी-पढ़ी और औरों से पढ़वाई. कुछ कविताएँ भी कीं मच्छरों को प्रसन्न करने को और फिर उन कविताओं को सुनाने के लिए एक कवि-सम्मेलन भी करवाया, लेकिन मच्छरों जैसा नामुराद प्राणी भला कविता जैसी कोमल कमनीया की कदर क्या करे. सो उन मूढ़-मतियों पर कोई असर न होना था सो न हुआ. लिहाजा बहुत तंग होने पर गोबर का धुंआ भी प्रयोग किया, और, भाई साहब दीपावली पर प्रति व्यक्ति दस रुपये के हिसाब से पटाखे और आतिशबाजी भी चलवाई कि शायद कुछ गावदी टाइप के मच्छर शोर-शराबे से भाग छूटें, शेष कुछ उन्हें भागता देख कर भागें और उनसे भी शेष रहने वाले बड़े व बहादुर मच्छर इस युद्ध में अभिमन्यु की भांति खेत रहें लेकिन बारूद के धमाकों से भी मच्छर न भागने थे, सो न भागे, बल्कि जोर से बैण्ड-बाजों के साथ लगभग निर्णायक हमला बोल बैठे.

अब हम रोज-रोज मच्छरों के भगाने की नई नई तरकीबें सोचते और मच्छर हमें परेशान करने की. बात इतनी खिच गई कि जैसे दो पहलवान अखाड़े में उतर आये हों, पतंग की पेंच लगाने को या एक लाल कपड़े के गिर्द दो सांडों का चक्कर शुरू हो गया हो. दिन से रात और रात से दिन इसी सोच में बीतते रहे, नई-नई तरकीबें हमारे जेहन में बनती रहीं, बिगड़ती रहीं. जागते में मच्छर ही मच्छर दीखते, सोते वक्त भी मच्छर ही मच्छर दीखते, वहाँ तक तो ठीक था लेकिन हमें तो सपने में भी फिल्मी हिरोइनों की बजाय मच्छर ही के ख्वाब आते. ऐसा लगा कि सोचने का स्थानीय ठेका मच्छरों ने ही ले रखा हो.

ऐसे में एक दिन बड़ा ही दिलचस्प वाक्या हुआ. रात के समय लगा कि हमें नींद आने को है या शायद आ भी गई हो. न भी आई हो, गर्ज ये कि कुछ निश्चित नहीं था कि नींद आई कि नहीं आई, कि मच्छरों को रोजमर्रा वाला भप्पी लाहिड़ी मार्का संगीत कानों में पड़ा. उसे सुनते हुए करवट बदल हमने इन्जेक्शन से होने वाली पीड़ा के लिए मन ही मन हनुमान चालीसा का जाप करते हुए स्वयम् को तैयार किया, क्योंकि इन्जेक्शन लेने के सिवा तो कोई चारा था ही नहीं, सो हमने अपने आप को मानसिक रूप से तैयार करते हुए, कस कर आंखें मींच ली, दांत भी भींच लिये, और........

आँखें मीचे, और दांत भींचे जब हमें आशा से अधिक समय गुजरता लगा, लेकिन इन्जेक्शन की चुभन महसूस हुई ही नहीं तो डरते-डरते जरा सी नजर की कोर खोल कर और आंख को जरा-सा घुमाकर जो देखा तो वो वाकया देखा कि हमारी आंखें ही जैसे खुली की खुली रह गईं. हकीकत में तो हम बेहोश होते-होते बचे. दिल दंग होकर रह गया, और डरे हुए चूहे की तरह पसलियों से चिपक गया. हमें ऐसा लगा भाई साहब कि जैसे मैं हवा में हूँ, पतंग की तरह नहीं, चिड़िया की तरह भी नहीं,

बल्कि उड़न खटोले में जैसे सैर कर रहा हूँ. मेरे जेहन में चींटियों द्वारा किसी मकोड़े को घसीट कर ले जाने वाला अक्स नमू हुआ. अपने पलंग से कोई मीटर भर ऊंचा मैं हवा में तैर-सा रहा हूं, और अनेक बड़े-बड़े हाथी-छाप मच्छर अपनी ऐंढी-मेढी लम्बी, ओक्टोपसी टांगों में मुझे फंसाये धीरे-धीरे उड़ रहे थे. मरने के बाद यमदूतों द्वारा ले जाये जाने का सा सगुण दृश्य था मेरे सामने. मैं तो चूंकि इन मच्छरों को अच्छी तरह से पहचानता था इसलिए कोई धोखा नहीं खाया, लेकिन मेरी जगह यदि आप होते तो अवश्य ही यह मान लेते कि आप जन्नत-नशीन हो चुके हैं. हमने इनके चंगुल से मुक्त होने की सोची और नीचे निगाह डाली तो देखा कि हम कई मीटर जमीन से ऊपर हवा में हेलीकॉप्टर बने हुए हैं. इतने ऊपर से मैं यदि इनसे छूट भी गया तो अपनी पसलियां तो तुड़वा ही बैठूंगा, और अगर, रीढ़ की हड्डी में कोई चोट आ गई तो……सोचते ही रीढ़ की हड्डी में सिहरन सी होने लगी. डर के मारे मैंने चुप ही रहकर अपने को आगे के हालात के लिए उन नामुरादों के भरोसे छोड़ दिया.

वे सब मुझे उठाये, गांव से थोड़ा दूर किसी नामालूम खण्डहर में ले गये. डाकू गब्बरसिंह से कम उनका अड्डा भी नहीं रहा होगा. यदि एन. सी. सिप्पी या अन्य कोई पिप्पी फिल्मी डायरेक्टर उस जगह को देख लेता तो अवश्य ही वहाँ शूटिंग को आता. वहां उनसे भी बड़े कुछ मच्छर जो शायद उनके नेता रहे होंगे, या मन्त्री, क्योंकि वे सब इनसे अलग एक ऊंची मेड़ नुमा कुर्सी पर विराजमान थे. वैसे वे नेता निश्चित ही थे, यह बात मैं दावे से इसलिए नहीं कह सकता, क्योंकि हमारे नेताओं की तरह न वे सफेद हाथी जैसे थे, न श्वेत वसना और न ही उनके चेहरों से वैसी मक्कारी ही टपक रही थी, जैसी कि अक्सर यहाँ के नेताओं के चेहरे पर चस्पां होती है.

मच्छरों के इस अकस्मात अपहरण से मैं घबड़ाया हुआ तो पहले ही था और जब यहाँ इनकी पूरी ही बटालियन के सामने स्वयम् को एक मात्र आदमी के रूप में पाया तो उनके कट्टर दुश्मन होने के कारण उनसे आतंकित, उनके कब्जे में स्वयम् को असहाय और फंसा देखकर मुझे लगा कि मैं कहीं नाजियों के हाथों में तो नहीं फंस गया ! मारे भय के मैं बिना बुखार ही कंपकंपाने लगा. थरथराते शरीर और लड़खड़ाती जुबान से मैंने अपने देवताओं का स्मरण किया और फिर उनसे रहम की भीख मांगनी शुरू की. मैंने बड़ी ही विनम्रता से उन मूढ़-मतियों को विक्रमादित्य मानते हुए मुझ अकिंचन की खता-गुस्ताखी जाननी चाही, तो उन्होंने मेरे तमाम प्रश्नों के प्रयासों की ही उपेक्षा कर दी और गरजते हुए कहा कि सवाल तो हम करेंगे, आपको तो सिर्फ पूछे गये प्रश्नों के जवाब देने हैं. यकीन जानिये उनकी ऐसी मच्छरनुमा गर्जना सुनकर मेरा आधा भय तो जाता ही रहा और मैंने महसूस किया कि मेरे में हौसला आता जा रहा है. उधर उनका नेता कह रहा था—ध्यान रहे, आप एक कैदी हैं, महज कैदी. यहाँ आप डागडर बाबू नहीं हैं, न ही आप अपनी बस्ती में हैं. यह हम मच्छरों की बस्ती है, लिहाजा आप अभी हमें मच्छर नहीं, शेर समझें. यहां हमारी शान में जरा-सी भी गुस्ताखी करने पर आपके शरीर का सारा

रक्त हमारी वाहिनी द्वारा पी लिया जा सकता है. उनकी इस धमकी से मैं अधिक तो नहीं डरा, लेकिन किसी नामालूम अनिष्ट की आशंका से सहम कर मैंने उनके प्रश्नों के फटाफट जवाब देने शुरू किये जो मेरी स्मृतिपूर्वक निम्न प्रकार से हैं.

आपके ऊपर इल्जाम नम्बर एक यह है कि आपने इन दिनों हमारे खिलाफ कार्रवाई तेज कर दी है और अपनी सरगर्मियों को युद्ध स्तर तक तेज कर दिया है. मैंने इसके जवाब में डरते हुए कहा कि यह तो मेरा फर्ज था. इसी का तो मुझे वेतन मिलता है और इसी काम से मेरे परिवार का भरण-पोषण होता है. दूसरे आपने भी तो इन दिनों अपने हमले तेज कर दिये हैं. मुझे साक्षात उठाकर ले आये, ऐसा पहले न तो आप मच्छरों के इतिहास में हुआ है, न हम आदमियों के इतिहास में. सच पूछा जाय तो आपने हमारा जीना हराम कर दिया है. मैं और भी बहुत कुछ जोर से जोश में आकर बोलता लेकिन तभी मुझे ध्यान आया कि मैं गांव के लोगों के सामने भाषण नहीं झाड़ रहा हूँ, बल्कि मच्छरों के दरबार में पेशी पर हूँ. मेरे कुछ और बोलने से पहले उन्होंने ही मुझे टोक दिया और कहा—

"क्या खाक जीना हराम कर दिया है ! वह गर्जा—अव्वल तो हम ठहरे मच्छर, तुम सोच ही कैसे सकते हो कि इन्सानों जैसी विकसित सभ्यता का हम मच्छर जीना हराम कर देंगे. तुम इन्सान न जाने क्यों इतने स्वार्थी हो कि औरों को तो सहन ही नहीं करते. अन्य प्राणियों के खिलाफ एक अभियान-सा छेड़ रखा है आप इन्सानों ने. एक अघोषित-सा युद्ध छेड़ रखा है आप लोगों ने.

लेकिन आप लोगों के खिलाफ तो ऐसा कुछ नहीं किया. मैंने उसे नरम करने की गरज से कहा, फिर आप इतने खफा क्यों हो रहे हो ?

कौन कहता है कि नहीं चलाया गया है अभियान. प्रथम तो जंगल के जंगल समाप्त कर डाले, तब भला पेड़-पौधे की पत्तियों की ओट के अलावा हम रहेंगे कहाँ ! और तो और, अब तालाबों और बावड़ियों का जमाना भी लदता जा रहा है, दूसरी ओर अपनी ही सरकार के न चाहने पर भी आप लोग दे बच्चे पर बच्चा, दे बच्चे पर बच्चा करके अपने मकानों के अन्धेरे कोने तक को बच्चों से भर देते हैं. ऐसे में हम मच्छर कहाँ रहेंगे, यह भी सोचा होता ! दिन भर बच्चों की चिल्ल-पों से घबड़ाये हम बाहर पोखरों में रहने को भागे, तो वहाँ भी फैल गये आपके बच्चे. ऐसे में हम कहाँ जाएँ और कैसे रहें ! पहले हम संख्या में होते भी कम थे, जिससे हमारी समस्याएँ भी कम होती थीं. लेकिन जब से आप आदमियों के करोड़ों बच्चे लाखों लिटर पेशाब और हजारों क्विटल पाखाना कर देते हैं तो हमारी संख्या में बढोतरी नहीं होगी तो क्या होगा ! इस तरह हमारी संख्या में दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ोतरी होने लगी और रहने की जगह तेजी से घटने लगी. राशन की भी बेहद कमी पड़ने लगी. तुम आदमियों को काटते भी हैं तो पेट तो भरता नहीं, न मालूम क्या हो गया है तुम्हारे खून को ! शरीर में जैसे है ही नहीं. तब हम क्या पियेंगे. अन्धेरे कोनों से बच्चों ने भगाया, पोखरों, तालाबों से बच्चों ने भगाया, तो मजबूरन हमें आपके कस्बों एवम् घरों, नालियों में डेरा डालना पड़ा. इस तरह हम इन्सानों के गिर्द सिमट

कर रहने को मजबूर किये गये. अब उस पर भी आपको आपत्ति है तो क्यों? बताओ क्यों? क्या इस दुनियाँ के किसी भी हिस्से पर आदमी के अतिरिक्त दूसरों का अधिकार है ही नहीं?

गुस्से से उस मच्छरजी का मुँह तमतमाने लगा. कुछ फेन भी होठों से बाहर झलकने लगा. आँखें काली और अनुपात से बड़ी दिखने लगी और बदन की कंपकंपी से उसके गुस्से की मात्रा का अनुमान होने लगा. यूं निश्चित ही वह उत्तेजित हो चुका था. उत्तेजना में सांस का भर जाना स्वाभाविक है, अतः तनिक सांस लेकर वह पुनः बोला —आपकी गवर्नमेन्ट ने एक मूवमेंट चलाया, खूब जोश बढाया. शिक्षा फैलायी, पहले बीस सूत्री और फिर चार और जोड़कर चौबीस बनाये, सबमें परिवार नियोजन का प्रचार किया. फिर वापस चार सूत्र घटा कर बीस सूत्र रखे, लेकिन प्रचार लगभग एक ही सूत्र परिवार नियोजन का किया. लेकिन आप लोग न जाने किस मिट्टी के बने हुए हैं, कि····वह गुस्से की अधिकता से दो चार शब्द अंग्रेजी के झाड़ने को ही था कि मैंने लगभग बात को काटते हुए पूछ ही लिया- "यह सारी बातें मुझे क्यों कही जा रही हैं! मैं कोई लीडर या प्लीडर नहीं हूँ, जनता का मैं मन्त्री तो कतई नहीं हूँ. मैं कोई विरोधी दल का नेता भी नहीं हूँ, मैं कसम खाकर कह सकता हूँ कि मेरा नेतागिरी वा राजनीति से कोई वास्ता नहीं है. मैं तो एक सीधा-सादा सरकारी कर्मचारी हूँ, वह भी मलेरिया जैसे विभाग का, फिर यह कोप, यह नजला, यह गर्जन-तर्जन मुझ पर ही क्यों?"

'तुम पर!' वह गर्जा, तुम ही तो हमारे खिलाफ अभियान चलाते हो और उधर स्वयम् दे बच्चे पर बच्चा पैदा किये जा रहे हो. इन बच्चों के कारण ही हमें रहने की जगह की कमी पड़ती है और हमारी संख्या में बढोत्तरी भी बच्चों के कारण ही होती है. अतः तुमको तो छोड़ा ही नहीं जा सकता. मच्छरों और इन्सानों के बीच संघर्ष के कार्य-कारण तुम ही तो हो. तुम्हें सख्त सजा की जरूरत है, क्यों कि तुम इन्सानों और मच्छरों दोनों के समान रूप से दोषी हो. ऐसा कहते ही उसने न जाने क्या इशारा किया कि समस्त हाथी छाप मच्छर रेस के घोड़ों की तरह मेरी ओर लपके.

मैं जो हड़बड़ाकर उछला तो बिस्तर से नीचे आकर गिरा. मारे डर के मेरा बदन कांप रहा था. सुबह-सुबह उठते ही तीन कप चाय पीने के बाद भी हालत सामान्य नहीं हुई. बदन रह-रह कर जूड़ी के मरीज की तरह कांपता रहता था. भय के कारण रह-रह कर कभी मच्छरों की फौज दिमाग में आती तो कभी उड़न-खटोले की उड़ान. जब मच्छरों की फौज दिमाग से हटती तो बच्चों की फौज दिखाई पड़ती. लगता कि घर, आँगन, रसोई और छत तक भर गई है बच्चों से और उसके बाद भी टोला भर बच्चे घेरे हुए पूछ रहे हैं अपनी बैठने की जगह के बारे में. कभी लगता कि बच्चे टिड्डी दल में बदल गये हैं और समस्त वनस्पति को चट करने के बाद मेरे बदन को घेर रहे हैं, और, अगले ही पल मैं जैसे ठूंठ की तरह हो गया हूँ. मैं चिल्लाने की कोशिश मे भी कामयाब नहीं हो पा रहा हूँ. देखता हूँ कि दैनिक

अखबार मेरे सामने है और उसमें मेरा ही कार्टून छपा है. ऐसे अनेक भयावह, हास्यास्पद और हास्यप्रद दृश्य मेरी आँखों में तैरते हैं और क्षण भर बाद ही दूसरे रूप में पुनः उभर आते हैं. ऐसे में रात कब बीती, दिन कब बीता, शायद पता ही नहीं चला. जब पता चला, तब लगा कि अब ही आँखें खुली हैं. इस घटना ने ऐसा असर किया दिमाग पर कि हम जो घर से निकले तो नसबन्दी करवा कर ही घर में घुसे. उसी दिन रात को सोते वक्त मच्छर देवता को हाथ जोड़ कर अर्ज किया कि अब तो बख्श दो मेरे आका !

आप यकीन कीजिये कि उसी दिन से मेरे मन का भय मिट गया. मैं सामान्य हो गया और मुझे चैन की नींद भी नसीब होने लगी, एक अरसे बाद.

घरेलू गधे और हातिमताई के सात सवाल

घरेलू गधों के लिए वैसाख और जेठ मास श्रेष्ठ माने जाते हैं, यानी कि मई और जून. ये महीने उन्हीं गधों के लिए श्रेष्ठ होते हैं जो वस्तुतः गधे होते हैं, अर्थात् महज सांस्कृतिक विरासत के पिष्ट-पोषण हेतु अल्पकालिक गधे नहीं बने होते. होली से लेकर अप्रेल तक ऐसे गधों की तूती बोलती है और जैसे ही पहली अप्रेल समाप्त हुई कि इन गधों को जूती तक नहीं पूछती. परन्तु तब भी गधे का महत्व कम नहीं हो जाता. जब मई-जून की गर्मी के मारे अन्य प्राणी सिकुड कर केंचुए हो जाते हैं, कुत्ते से लेकर भैंसें तक छछुन्दर बन जाते हैं और पड़े रहते हैं किसी झाड़ी की छाया में, तब गधा पसर कर मोटा हो जाता है. इसके स्वास्थ्य का क्या राज है, इस मीन-मेख में न भी जायें तो इतना तो कह ही सकते हैं कि अभी तक गधे के इस मौसमी स्वास्थ्य पर किसी भी टी. वी. के विज्ञापनदाता की नजर नहीं पड़ी अन्यथा बहुत सुबह के ब्रेक-फास्ट के कार्यक्रम में अथवा समाचारों के बाद या चित्रहार के ठीक पहले मेरे समाज के जागरूक लोग इस प्रकार के विज्ञापन अवश्य देखते—तेरा (बच्चा) गधे जैसा क्यों नहीं हुआ ? अवश्य ही तूने डी. पी .टी. के तीन टीके नहीं लगवाये होंगे. या कि देखिये गधेजी के स्वास्थ्य का राज ! ये रोज भिनकारी टॉनिक इस्तेमाल करते हैं या कि ढेंचू ब्रान्ड इस्तेमाल कीजिये और गधे जैसे स्वस्थ बने रहिये. ये महाशय रोज फिनामिन की टिकिया लेकर ही चरने जाते हैं आदि-आदि प्रकार के विज्ञापनों का बोलबाला दिखाई देता. हमें आज तक यह पता नहीं चल पाया कि इस प्रकार के विज्ञापन किसका गधापन प्रदर्शित करते हैं ? इस एक ही बात से यह बात थोड़े ही समझी जा सकती है कि घरेलू गधों की यह एक अकेली किस्म आबाद है.

घरेलू गधों का गणित दो और दो चार वाला गणित नहीं होता. कबीर की उलट बाँसियों की तरह गधों के गणित को समझने के लिए भी धीरज और ज्ञान अपेक्षित है. बहुत सम्भव है कि धीरज होने के बावजूद यदि गधे अपने गधेपन को नहीं समझ सकें तो कहीं न कहीं यह उनके अल्पज्ञान की कमी तो नहीं है. तुर्रा यह कि घरेलू गधों की इन किस्मों में ऐसा साम्य होता है कि कई बार पता ही नहीं चलता कि जिसके बारे में बताया जा रहा है वह गधा है या कि जो बता रहा है वह गधा है. यहाँ वकील और फरीक दोनों एक-दूसरे को ऐसा ही समझते हैं. वकील की नजर में फरीक से बड़ा गधा दूसरा नहीं होता तो फरीक की नजर में वकील साहब भी एक गधे होते हैं. इस तरह अन्त तक यह पता नहीं चलता कि कौन किसका गधा था, कि है. वोटर और नेता के लिए तो साफ ही है कि चुनाव के दिनों को छोड़ कर वोटर ही नेताजी का घरेलू गधा बना रहता है. आजकल यद्यपि इसमें भी अपवाद मिल जाते हैं, क्योंकि कई-कई किस्म के गधे अपने नेताओं के ऐमी दुलत्तियां झाड़ते हैं कि नेता अपना सारा गधापन भूल कर आदमी बने रहने को विवश हो जाते हैं.

गधा अगर आरसी यानी कि आईना देखे तो बहुत सारी धुन्ध तो स्वयम् ही साफ हो जाय. वोटरों को भी दिख जाय कि महंगाई कम करने, बेरोजगारी हटाने, और राम-जन्म भूमि बाबरी मस्जिद विवाद को सुलझा कर साम्प्रदायिक सद्भाव कायम करने के वादे अभी तक तो आरसी पर ही चस्पा हैं और जो सामने हैं, वह तो गधे को भी दिखाई देता है. महंगाई का मतवालापन और मनमानापन तो जैसे गधे से प्रतिस्पर्धा में है. किन्तु यह ईश्वर की अच्छी लीला है कि गधे आरसी नहीं देखते. हमारे वोटर भी नहीं देखते. यदि देखते तो फिर वे गधे नहीं रहते, खास करके घरेलू किस्म के गधे. अब घर की तो मुर्गी भी दाल के बराबर होती है, तो गधे के बारे में तो कह ही क्या सकते हैं. गधे इतिहास भी नहीं पढ़ते. वोटर भी इतिहास से सबक नहीं लेते, इससे वे भविष्य के बारे में सही नहीं सोच सकते. ऐसे घरेलू गधे सोचने का ठेका दिये रहते हैं और फिर खुद निश्चित होकर बैसाख-नन्दन होने की कहावत को चरितार्थ करते हैं. मई-जून में यानी कि जब आंच बरसती हो, तब भी पसर कर भैंसे होने की कल्पना कर सकते हैं. किन्तु, चूंकि वास्तव में 'बायोलोजिकली' यानी कि जैविक रूप से गधे नहीं होते, अतः सूख कर छुहारा हो जाते हैं.

गधे भांग नहीं खाते, यह बात किसी ने पीनक में कह दी होगी और निठल्ले साहित्यकार के से किसी प्राणी ने उसे मुहावरे में पिरो दिया. तब भी इस सदी में जब लोगों ने कई परम्परायें तोड़ने के बड़े-बड़े दावे किये हों तो गधे क्या इस एक साहित्यिक परम्परा को नहीं तोड़ सकते ! साहित्य से ही यह सिद्ध किया जा सकता है कि इस युग के सारे गधे, चाहे वह घरेलू किस्म के हों या कि वन्य किस्म के; सारे ही भांग खाये बैठे हैं. इससे भी आगे बढ़कर कहें तो यह कि घरेलू किस्म के गधे तो भांग खाकर ही पैदा हुए हैं. ये वोटर किस्म के घरेलू गधे, जिनमें इस बार भारी तादाद में नये पैदा हुए हैं, प्रत्येक राजनैतिक दल ने इन तथाकथित युवाओं पर ज्यादा ध्यान दिया था और इन्हें अपने साथ लेने के लिए अनेक वायदे किये थे. इन युवा वोटरों को रोजगार उपलब्ध कराने की बात कहे कोई अधिक अर्सा नहीं हुआ है, सिर्फ एक वर्ष का सैंतीस प्रतिशत के लगभग. जितने प्रतिशत में एक विद्यार्थी परीक्षा पास कर लेता है, वर्ष के उतने प्रतिशत के बीत जाने तक तो नई भर्तियों पर रोक लगी हुई है. वैसे यह कोई अधिक समय थोड़े ही है, यदि यह समय पर्याप्त होता तो युवा व बेकार लोग कहीं न कहीं हरकत में अवश्य आते. मुझे फिर घरेलू गधे याद आ जाते हैं. युवा लोग मुझे क्षमा करें. गधे अपनी सारी जिम्मेदारियों का बोझ कुम्हार पर छोड़कर मई-मस्त हो जाते हैं और चरितार्थ करते हैं—वैसाख नन्दन होने की कहावत.

देश के समक्ष एक महत्वपूर्ण समस्या साम्प्रदायिक-सद्भाव की है. यह समस्या मूलतः साम्प्रदायिक होने के बावजूद ज्यादा उग्रवाद की समस्या है. यदि कोई भी अपने सम्प्रदाय के सम्बन्ध में उग्र न हो तो कम से कम शान्ति से बैठ कर समस्या का समाधान ढूंढ़ना कोई कोहकाफ़ का खजाना ढूंढ़ने का काम नहीं है. तब भी जितने समय से हम इसे निपटाने में लगे हुए हैं, उतने समय में तो हातिमताई अपने सातों सवालों के

जवाब ढूंढ़ लाता. एक हम हैं कि सारे मिलकर भी इस एक सवाल का जवाब नहीं ढूंढ़ पा रहे हैं. तो कारण इतना ही है कि हर बार बीच में कोई न कोई उग्र हरकत करने का गधापन कर देता है. जिससे पूरा वातावरण दूषित हो जाता है और बात ठीक उसी मुकाम पर पहुँच जाती है, जहाँ वह प्रारम्भ में थी. हर बार लगता है कि कुछ कुम्हार नस्ल के लोग अपने घरेलू गधों का बेजा इस्तेमाल कर जाते हैं. जनता ने भी लगता है कि अपनी इस सम्बन्ध में सारी जिम्मेदारी नेता लोगों पर डालकर निश्चित होने का मानस बना लिया है, जिससे वे इस मई-जून के सुहावने (?) मौसम में अधिकाधिक मस्त बने रह सकें.

खलील जिब्रान ने एक जगह कहा है कि "जब जिन्दगी को अपने गीत सुनाने के लिए गायक नहीं मिलता, तो वह अपने मन के विचार सुनाने के लिए दार्शनिक पैदा कर देती है." घरेलू गधों की यह किस्म ही मेरे दार्शनिक हैं. इन्हीं से मेरे-उनके और उनके-मेरे बारे में बेखौफ बातें करने की सम्भावना बनी अन्यथा आजकल कौन किसकी सुनता है ! इसी सम्बन्ध में यह भी है कि "केवल गूंगे ही बातूनी से ईर्ष्या कर सकते हैं", घरेलू गधे यदि मेरी इस बात से ईर्ष्या करने जैसा कठिन कार्य करने का संकल्प लें तो बहुत कुछ सार्थक हो सकता है. इस प्रकिया मात्र से अनेक सवालों के समाधान न सही, उनके बारे में सार्थक चर्चा तो हो ही जायगी, चाहे वह चर्चा घरेलू गधों की सी ही हो. उम्मीद तो इसकी भी नहीं है, क्यों कि इस सदी के और इस तरह के प्राणियों के बारे में 'कार्लाइल' पहले ही कह चुके हैं कि "भाषण महान् है, लेकिन मौन इससे भी महान् है."

कबीर की उलट बांसियां अनेक अवसरों पर हमारी रक्षा कर सकती हैं. शब्द भी अनेक बार कवच का काम कर देते हैं. उपर्युक्त घरेलू किस्म के गधों की दुविधापूर्ण स्थिति के बारे में उस फक्कड़ कवि ने सदियों पहले उचित ही लिख रखा है—

सत-नाम कड़वा लगे, मीठा लागे दाम,
दुविधा में दोनों गये, माया मिली न राम ।

पाठक कृपया 'सतनाम' शब्द को सत-बात पढ़ें तो मैं उनका आभारी रहूँगा.

एक लोककथा की अश्वमेधी मुद्रा

लोककथा अजस्रता का सगुण रूप है. मनुष्य या अन्य जीवधारियों की भांति इसकी आत्मा ही अमर नहीं होती, इसका तो जिस्म भी अमर होता है. किन्हीं मायनों में इन्हें बैताल कह सकते हैं, जिसे जन-जन के विक्रमादित्य, अपने लालित्य-कौशल के साथ पीढ़ी-दर-पीढ़ी लिये चलते हैं. समय के थपेड़ों का, सांस्कृतिक और सामाजिक परिवर्तनों का इसके स्वास्थ्य पर अच्छा प्रभाव पड़ता है और यह नयी चमक और नूतन सौन्दर्य के साथ हर युग में मिलती है. हर साहित्यकार कलाकार इस चिर-यौवना के साथ चुहल कर आह्लादित ही होता है. ये उसके लेखक को भी स्वास्थ्य प्रदान करती हैं और स्वयम् भी जैसे च्यवनप्राश का सेवन करती हैं. परिवेश के प्रपंचों से परे, देशकाल से अधिक विस्तृत, इतिहास की कैद से आजाद, लोककथा अश्वमेध के घोड़े की तरह होती है, जो न जाने कब से, सम्भवत: सृष्टि-साहित्य के प्रारम्भिक काल से अभी तक यात्रा पर ही है और कोई भी बन्धन इसे बांध नहीं पाया है. इसे न रूंख अपने से बांध पाता है, न पवन अपने संग उड़ा ले जा सकता है, न पर्वत इसे अपने पांवों तले दबा सकता है. लोककथा तो वास्तव में लोक की कथा ही होती है, जो लोक के साथ-साथ चलती है और लोक के संग-संग चलती रहेगी. न लोक समाप्त होगा, न लोककथा ही.

लोककथाएँ वस्तुत: लोक की गीता होती हैं. इससे ही देशज लोगों के कर्म और धर्म के मानक तय होते हैं—संकट और संक्रमण के समय लोककथा ही राह भी दिखाती है, बस जरूरत होती है सही समय पर सही लोककथा के दृष्टांत की. लोककथाओं में समस्याएँ भी होती हैं और समाधान भी. आज के युग में समस्याएँ ही समस्याएँ हैं और समस्याओं का मकड़जाल कुछ ऐसा उलझ गया है कि समाधान के सिरे पर ही समस्या मौजूद मिल जाती है. समस्या-दर-समस्या की एक शृंखला-सी है हमारे सामने और समाधान के नाम पर कुछ नहीं है. कहीं कुछ राजनीतिज्ञों के घिसे-पिटे नुस्खे हैं तो कहीं कुछ बुद्धिजीवियों की फिलोसोफी. ऐसी रहस्यवादी फिलोसोफी जो लगभग मध्यकाल में नाथों और संतों की होती थी कि लोग समझ कर भी कुछ न समझें. सिवाय मुण्डी हिलाने के आम आदमी की भागीदारी उसमें कुछ भी नहीं होती थी. लोककथाएँ जिन लोगों ने भी कही हों, कभी भी कही हों, उनके दिमाग में 'स्व' का भाव तो था ही नहीं. उनके मानस में लोककल्याण की शुद्ध भावना का होना ही लोककथा की अक्षय प्रासंगिकता का कारण है.

लोककथा की अपनी एक विशिष्ट शैली होती है. नगरीय सभ्यता के लिए वह गंवारू या अजूबा हो सकती है लेकिन गांव-वासी के लिये, जिनके कि वह तन-मन में रची बसी होती है, उनके लिये यह शैली बड़ी ही सरल, सुबोध और सुगम होती है बिल्कुल उनकी अपनी जिन्दगी की तरह. देखिये न !

एक चिड़िया थी. अक्सर लोककथाएँ चिड़िया से ही शुरू होती हैं या कि राजा और रानी की कहानी से. जहाँ राजा-रानी सामन्तता के प्रतीक हैं, चिड़िया प्रतीक रहा है—साधारण जन का. चिड़िया थी, यानी कि बात किसी साधारण मानवी की होने जा रही है. यही तो विशिष्टता होती है लोककथा की ! और यही उसकी चिर-जीवन्तता का कारण भी है.

तो एक चिड़िया थी. उसे कहीं से एक मोती मिल गया. यकीनन् ऐसे अजूबे कभी-कभी ही होते हैं कि चिड़िया जैसों को भी मोती नसीब हो जाते हैं. प्रकृति तो भेद करती नहीं है राजा और रंक में, सो चिड़िया को भी भाग्य से एक मोती मिल गया. चिड़िया मोती पाकर फूली समाई ही नहीं थी कि किसी कांइयां कौए ने उससे वह मोती छीन लिया, और जा बैठा नीमड़ी की ऊंची डाली पर. ऐसी घटनाएँ कालातीत होती हैं. साधारण आदमी के पास मोती जैसी चीज देख कर कौए लोग उसे हड़पने का कोई मौका कब छोड़ते हैं ! स्साली को पेट भर खाने को तो मिलता नहीं, मोती की रखवाली करेगी. अरे ! अगर मोती उसके पास रह गया तो कल से वह हमारी बराबरी करने लगेगी. हमारे बराबर बैठेगी और गाहे-ब-गाहे उसकी सलाह भी सुननी पड़ेगी. यानी कि हद हो गई. अदनी चिड़िया के पास मोती, फिर तो जी लिये कांइयां कौए इस दुनिया में और फिर जैसा कि सनातन से होता आया है इस दुनिया में कौए ने छीन लिया चिड़िया का मोती, कि देखें, क्या कर लेगी वह अदनी चिड़िया. क्या वह मेरा हुक्का-पानी बन्द करा देगी? क्या वह मेरा रहना हराम कर देगी? वह कुछ नहीं कर सकती, वह कुछ नहीं बिगाड़ सकती मेरा, यह सोच कर कौआ नीमड़ी पर बैठा-बैठा अपने पर इतराने लगा.

चिड़िया बेचारी नीम की चिरौरी करती है, अनुनय-विनय करती है, अपने हक की बात करती है, न्याय की बात करती है, लेकिन कांइये लोग ऐसे थोड़े ही मानते हैं जो कौआ माने. उसे तो न मानना था, सो न माना. माने भी क्यों कांइयां आदमी ! यदि ऐसे मान जाते तो दुर्योधन पांडवों का राज्य हड़पना क्यों चाहता. ऐसे लोग हर युग में और हर समय में मिल जाते हैं. राम के राज्य में भी होंगे, रावण के राज्य में भी होंगे. अंग्रेजों के राज में तो खैर भरे पड़े थे. उधर राजाओं के राज में भी कमी नहीं थी और न आज ही कांइयां आदमियों की कमी है. यदि ईमानदारी से ढूंढ़ा जाये तो हर आदमी के भीतर एक कांइयां छुपा हुआ मिल सकता है. कौआ तो फिर कांइयां होता ही है. पाकिस्तान द्वारा कश्मीर का बड़ा भाग दबाये रखना उसका कांइयांपन ही तो है. ऐसों के लिए ही बाद में विद्वानों ने कहावत लिखी होगी कि 'लातों के भूत बातों से नहीं मानते.' ऐसे दूसरों के माल को हड़प कर अपनी तोंद मुटियाने वाले कांइये कौए ने चिड़िया का मोती जबरन छीन लिया और वह नीमड़ी की ऊंची डाल पर जाकर बैठ गया.

नीमड़ी ग्रामीण अंचल में तब भी धार्मिक वृक्ष मानी जाती थी और अब भी. नीमड़ी पर जाकर कौए के बैठने का अर्थ ऐसा हुआ जैसे आतंकवादी गुरुद्वारे में घुस गये हों. धार्मिक-स्थल से दुष्ट को भी बलपूर्वक नहीं निकाला जा सकता, यह हम धर्म-

भीरुओं को प्राप्य सनातन श्राप है. नीमड़ी पर बैठे कौए को स्वयम् नीमड़ी तो उड़ा सकती है. ऐसा ! शायद ऐसा ही सोचकर चिड़िया ने नीमड़ी से विनती की कि वह अपने पर से कौए को उड़ने को मजबूर करे. लेकिन विनती करने से ही कौन सुन लेता है ? पाकिस्तान को भी तो बड़े देश हथियारों से लैस करते जा रहे हैं और हम उन्हें बारम्बार विनती किये जाते हैं कि वे उसे हथियारों से लैस न करें, परन्तु ऐसी विनती न तब कोई सुनता था, न अब सुनता है. इसलिये तो यह लोककथा आज भी प्रासंगिक है.

आगे की लोककथा नन्ही-सी चिड़िया का न्याय पाने का प्रयास है. वह खाती के पास जाती है कि वह दुष्ट कौए को शरण देने वाली नीमड़ी को काट गिराये. खाती यदि चाहता तो नीमड़ी को काट सकता था. लेकिन हमारी अकर्मण्य संस्कृति का श्राप जो लगा था उसे भी. उसने सोचा कि क्यों फालतू में पंगा मोल लिया जाय, नीमड़ी काटने से अधर्म भी होने का संशय था और कौओं के नाराज हो जाने का अन्देशा भी जबकि चिड़िया को घुड़क कर भगाने से कोई हानि होने का डर नहीं था. फलितार्थ यह कि खाती ने भी उसकी विनती को कोई तवज्जो नहीं दी.

चिड़िया को पूरी उम्मीद थी उसका पक्ष प्रबल है. और, जब भी उसे सही न्याय करने वाला मिलेगा, मोती उसके पास होगा. उसने हिम्मत करके राजा के पास जाने की ठानी. राजा को फरियाद की. खाती द्वारा नीमड़ी न काटने की शिकायत की, नीमड़ी द्वारा कौए को प्रश्रय देने और कौए द्वारा मोती छीन लेने की शिकायत की और उन्हें सजा देने व स्वयम् को न्याय दिलवाने की प्रार्थना की.

न्याय भी प्रभावशाली लोगों के ही काम की वस्तु बन जाता है, जब लोककथा के राजा जैसे राजा हो. राजा ने चिड़िया की बात तक नहीं सुनी. हो सकता है कि वह दरबारियों से आगे पहुँच ही न सकी हो. यह भी हो सकता है कि कौए के धार्मिक स्थल में शरण ले लेने के कारण राजा भी असमंजस में हो. धर्म के मामले में इस संस्कृति में कम ही दखल किया जाता है, और इसका लाभ अनेक अवसरों पर अपराधी मनोवृत्ति के लोग उठा लेते हैं. धार्मिक मामलों में पंगा लेने के परिणाम अक्सर बुरे ही रहते हैं, और वे धार्मिक उन्माद का कारण बन जाते हैं. बाद का इतिहास गवाह है कि धार्मिक स्थल में सेना भेजने के कारण मेरे देश की सबसे सुन्दर और भली गौरय्या को अपना बलिदान देना पड़ा. राजा में शायद इस तरह मूल्यों के लिए बलिदान हो जाने का हौसला न पैदा हुआ हो. जो कुछ भी हुआ हो, लेकिन जो नहीं हुआ वह यह था कि चिड़िया को राजा से न्याय नहीं मिला.

चिड़िया तब भी निराश नहीं हुई. न्याय के प्रति उसकी आस्था उसे रानी के पास ले गई. स्वयम् नारी जाति की थी और नारी जाति में पलती करुणा की भावना पर उसे विश्वास था. उसे पूरा भरोसा था कि नारी जाति पर हुए अत्याचार को रानी महसूस करेगी और राजा से रूठते हुए अपने प्रभाव का उपयोग करते हुए उसे न्याय दिलवाने की दया करेगी. कैकयी ने भी तो रूठ कर दशरथ से अपनी बात मनवाई थी. जब दशरथ जैसा राजा रानी के रूठने पर उसकी गलत बात तक को मानने को

विवश हो जाता है तो यहाँ तो सही बात के लिए जिद भर करनी थी. लेकिन रानी ने भी ऐसा नहीं किया. सुविधा भोगी लोग गरीबों पर दया भी अपने मूड के अनुसार करते हैं. ऐसा लगा कि उस समय रानी का मूड नहीं होगा और, इस तरह बेचारी चिड़िया को वहाँ से भी न्याय नहीं मिला.

लोक कथाकार ने चिड़िया की इस स्थिति का वर्णन बड़ा ही सरल व मार्मिक किया है—

राणी राजा रूठे नी,
राजा खाती दण्डे नी,
खाती नीमड़ी काटे नी,
नीमड़ काग उड़ावें नी,
काग चिड़ी रो मोती दे नी,
चिड़ी रोती रैं नी.

इस तरह सम्पूर्ण व्यवस्था से न्याय न मिलने पर भी चिड़िया रो-धो कर चुप कर नहीं बैठ जाती. वह इस असन्तोष को हवा देने के लिए प्राणी समाज के मानवेतर प्राणियों के पास पहुँची गुहार लगाने. सबसे पहले वह गई चूहों के पास, जो कि मानव व मानवेत्तर दोनों के समान सम्पर्क में रहते हैं और चुपचाप अपना काम करने में माहिर गिने जाते हैं. उन्हें रानी के नये-नये वस्त्र काट डालने के अनेक अवसर उपलब्ध हो सकते थे. उसने चूहों को विनय की होगी कि इन्सानों के अपने स्वार्थ होते हैं और इन्हीं स्वार्थों के कारण उनमें दया ममता, प्रेम और न्याय के प्रति निष्ठा जैसी मानवीय भावनाओं का भी लोप हो गया है. वे सम्वेदनाहीन हो गये हैं और अपने मतलब के लिए अपने ही द्वारा स्थापित मूल्यों और आदर्शों से च्युत हो गये हैं लेकिन हम पशुओं में और पक्षियों में परस्पर दया, ममता व सामाजिकता के स्वाभाविक गुण विद्यमान हैं. अतः अपने ही लोगों की आशा लेकर वह चूहों के पास पहुँची.

समाज के सुविधाभोगी वर्ग में आज की भांति उस वक्त भी ऐसे गुणों का अकाल ही रहा होगा. चूहों ने इसे फटे में टांग अड़ाने से तुरन्त ही मना कर दिया. क्यों काटें हम रानी के कपड़े ! क्यों करें हम उनका नुकसान ! उच्च-निम्न वर्ग से उच्च होने का भाव तो रहता ही है.

चूहों की तरह ही बिल्ली ने चूहों को न मारने की बात दोहराई. वैसे भले ही बिल्लयाँ चूहों को मारती फिरें. लेकिन किसी के हित के लिए शठ को प्रताड़ित करने के लिए बिल्लयों ने भी हामी नहीं भरी. इस तरह लोककथाकार का सिलसिला चलता ही रहता है. न्याय के लिए कितनी कठिनाइयाँ सहनी पड़ती हैं, इसे बखूबी बताते हुए कथाकार चिड़िया को कुत्तों के पास ले जाता है. कुत्तों के बिल्लयों को मारने से इन्कार करने पर वह लाठी के पास जाती है, कुत्तों को पिटवाने के लिए. लेकिन लाठियां भी इन्कार कर देती हैं तो लाठियों को जलाने के लिए

वह अग्नि के पास जाती है. अग्नि भी अदनी चिड़िया की मदद करने को आगे नहीं आती.

अग्नि से निराश होने पर वह यथास्थिति वादी समुन्दर के पास जाती है, अग्नि को बुझा देने की प्रार्थना लेकर, लेकिन जैसा कि अपेक्षित था, समुन्दर भी इस मामले में पहल करने से इन्कार कर देता है. वहाँ से चिड़िया हाथी के पास आती है. हाथी सभी प्राणियों में बुद्धिजीवी माना जाता है. चिड़िया उस तथाकथित बुद्धिजीवी को भी न्याय दिलवाने में मदद करने की प्रार्थना करती है. वह उन्हें आग्रह करती है कि ऐसी यथास्थिति को वह उथल-पुथल करके रख दें. लेकिन जैसा कि अक्सर होता है, बुद्धिजीवी ऐसे आपात्कालीन समय या कि नाजुक समय पर क्लैव्यता के शिकार होकर रह जाते हैं. इस लोककथा में भी ऐसा ही हुआ. हाथियों ने भी चिड़िया की मदद से इन्कार कर दिया. उन्होंने उसे कोई सकारात्मक आश्वासन भी नहीं दिया. यह बुद्धिजीवियों की जागरूकता पर प्रश्नचिह्न है. लेकिन ऐसा ही प्रश्नचिह्न आपात्-काल में भी तो लगा था. ऐसे नाजुक क्षणों की याद यों लोककथा से ताजा हो उठती है. हाथियों से एक अभिप्राय लोककथाकार का समाज के कथित सफेद हाथियों से भी हो सकता है, जो अलंकारिक भाषा में समाज के स्तम्भ या कि कभी-कभी किंग-मेकर भी कहे जाते हैं. यद्यपि उस वक्त सफेद हाथियों का मुहावरा शायद न चलता हो. जो हो, हुआ यह कि हाथियों ने भी चिड़िया की सहायता से इन्कार कर दिया. अब शायद चिड़िया के पास कोई चारा नहीं बचा था, मन मसोस कर बैठ रहने के सिवा. तभी उसकी नजर पद-दलित और खर्व-काया चींटी पर पड़ी. आदतन या कि किसी क्षीण-सी आशा के तहत उसने चींटी से भी निवेदन करने की सोची. चींटी को निवेदन करने से पहले, यानी कि हाथी के इन्कार करने पर चिड़िया की स्थिति का वर्णन कथा में यों किया गया है :

हाथी समन्दर हिलौरे नी,
समदर आग बुझावे नी,
आग लाठी बाळै नी,
लाठी कुत्ता दण्डे नी,
कुत्ता बिल्ली मारे नी,
बिल्ली चूहा मारे नी,
चूहा रानी रा कपड़ा काटै नी,
रानी राजा से रूठै नी,
राजा खाती दण्डै नी,
खाती नीमड़ी काटै नी,
नीमड़ी काग उड़ावै नी,
काग चिड़ी रो मोती दै नी,
चिड़ी रोती रै नी.

लगभग समाज के सभी वर्ग दायित्व च्युत हो गये हैं. किसी को न्याय की प्रतिष्ठा से

अथवा न्याय की स्थापना से सरोकार नहीं है. ऐसा लगता है कि तत्कालीन समाज में भी एक दूसरे के प्रति सरोकार की भावना का लोप हो चुका था. सभी लोग व्यक्तिवादी और भोगवादी संस्कृति की गिरफ्त में थे. आज भी ऐसी ही स्थिति है. लोगों का सरोकार अपने परिवेश से भी न्यून रह गया है या कि बिल्कुल ही समाप्त हो गया है. लोककथा में ऐसी स्थिति के विरोध में खड़ी होने का साहस दिखाया है जानी मानी पददलित जाति चींटी ने. चींटी को अपने श्रम और कर्म पर गर्व रहता आया है. वह सदैव अनुशासित रहती आई है. अनेक समाजशास्त्री चींटी को प्रकृति की नगर पालिका का कर्मठ कार्यकर्ता मानते हैं. समाज की ऐसी क्लैव्यता के माहौल में चींटी ने साहस दिखाया, चिड़ी की मदद करने का. उसने चिड़िया को जवाब दिया, हाँ मैं मारूंगी हाथी को. हाथी है तो क्या हुआ ! यदि वह न्याय के लिए कुछ नहीं करता, समाज की सही व्यवस्था के लिए अपना योगदान नहीं करता, अपनी जागरूकता का परिचय नहीं देता और कि यदि वह अपने कर्तव्य का पालन नहीं करता तो वह समाज के किसी उपयोग का नहीं, उसे मारने के लिए मेरी सेवाओं की जरूरत हो तो अवश्य दूंगी. चींटी ने कहा, चलो, मैं हाथी को मारूंगी.

चींटी के ऐसा कहते ही कथा की धारा ही बदल जाती है. मरने के भय से हाथी समन्दर को हिलोरने को तैयार हो जाता है, समन्दर आग बुझाने को जैसे तत्पर ही था, आग तुरन्त ही लाठी-लक्कड़ को जलाने को तैयार हो जाती है, लाठी कुत्ते को पीटने को तैयार हो जाती है, कुत्ते बिल्ली को मारने को तैयार हो जाते हैं, बिल्ली चूहों को खा जाने को राजी हो जाती है, चूहे रानी के कपड़े काट डालने को राजी हो जाते हैं, रानी राजा से रूठने को तैयार हो जाती है, राजा खाती को सजा देने को तैयार हो जाता है तो खाती भी नीमड़ी को काटने को राजी हो जाता है और खुद के कटने के भय से नीमड़ी कौए को प्रश्रय देने से इन्कार कर देती है एवम् बात को बढ़ी हुई देखकर रिश्वतखोर कर्मचारी की तरह हें—हें—हें करता हुआ कौआ चिड़िया को उसका मोती लौटा देता है.

आज भी अनेक अवसर आते हैं, जब चिड़िया अपने मोती की रक्षा के लिए गुहार करती है. आज तो धड़ल्ले से बस स्टैण्ड के पास, दफ्तर में और अभी हाल में तो एक स्कूल में बेचारी चिड़िया को जला कर मार डाला, लेकिन कोई भी तो चिड़िया की सहायता को नहीं आया. अनेक चिड़ियाओं के आबरू के मोती लुट जाते हैं और समाज के सभी वर्ग देखते रह जाते हैं. ऐसे अवसरों पर लोग शीश झुका कर निकल जाने को अच्छा समझते हैं. एक चींटी की तरह ऐसी स्थिति से लोहा लेने की प्रवृत्ति लगभग समाप्त हो चुकी है. हम सब क्लैव्यता की स्थिति में जिये जा रहे हैं और एक लोककथा अपनी अश्वमेधी मुद्रा में हमारे सामने खम ठोके खड़ी है.

नाम—कन्हैयालाल वक्र

जन्म—4-2-1942

प्रकाशन—(1) छोटी बातें बड़ी सीख (बाल काव्य)
(2) टहलते टहलते (क्षणिकाएँ)
(3) अश्वमेधी मुद्रा (निबन्ध)

दैनिक हिन्दुस्तान, नवभारत टाइम्स, नवज्योति इतवारी, आजकल, सरिता, मुक्ता, चौथी दुनियां एवं अन्य अनेकानेक पत्र-पत्रिकाओं में निरन्तर कविताएँ, निबन्ध प्रकाशित। आकाशवाणी से प्रसारित काव्य-गोष्ठियों में सहभागिता।

प्रकाश्य—(1) अथ श्री बाबा गपक चौथ (गद्य)
(2) आपकी नीयत मैली है (काव्य)

सम्प्रति—उपरला जोशीवाल, बाड़मेर (राज.)